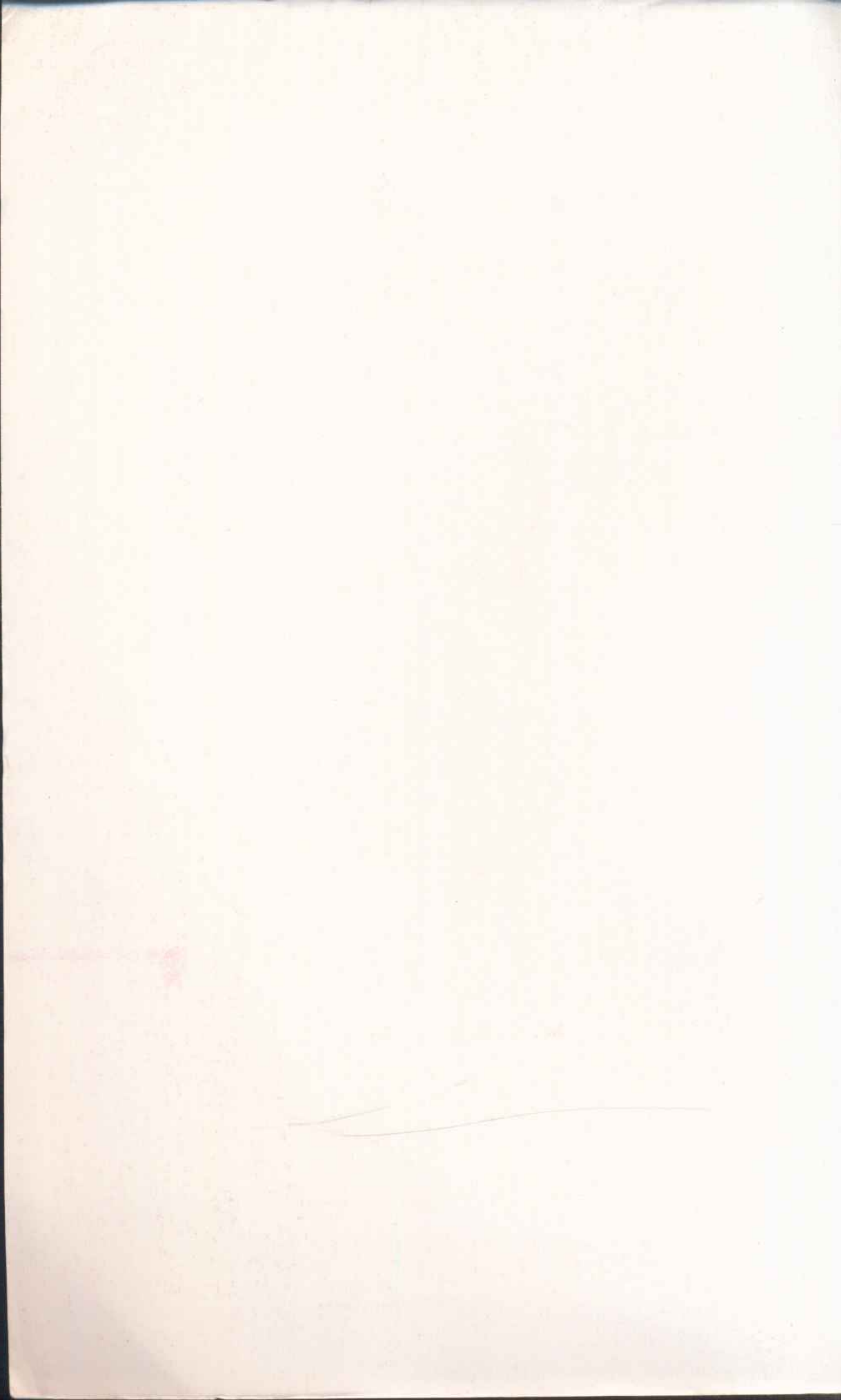
श्रीसाधना



म.म.पं. गोपीनाथ कविराज



श्रीसाधना

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

SHRĪ SĀDHANĀ

Spiritual writings of
M. M. Pt. Gopinath Kaviraj

2010

ISBN : 978-81-7124-743

अनुवाद : श्री विश्वनाथ मुखर्जी

पंचम संस्करण : 2010 ई०

मूल्य : पचास रुपये (Rs. 50.00)

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com • sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

भूमिका

श्रद्धेय महामहोपाध्याय डॉक्टर गोपीनाथ कविराज एक असाधारण व्यक्ति थे। वह अपने में ही एक विभूति और संस्था थे।

२०वीं शती में हमारे देश में कुछ प्रसिद्ध साधक हुए हैं। कुछ प्रसिद्ध दार्शनिक भी हुए हैं, किन्तु साधना और दार्शनिक प्रतिभा का जो सुन्दर समन्वय श्रद्धेय कविराजजी में मिलता है वह कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। लगता है १०वीं शताब्दी के अभिनव गुप्त श्री कविराजजी के रूप में पुनः इस धरातल पर २०वीं शताब्दी में प्रकट हुए। एक और विशेषता कविराजजी में पायी जाती है जो अभिनव गुप्त में भी नहीं थी। अभिनव गुप्त मूर्द्धन्यज्ञानी और तंत्र के अनुपम साधक थे, किन्तु श्रद्धेय कविराजजी में उत्कृष्ट ज्ञान के प्रकाश और तंत्र की रहस्यमयी साधना के अतिरिक्त जो प्रेम की निर्मल धारा का प्रवाह देखने को मिलता है वह अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है।

कविराजजी ने अपने जीवन में सैकड़ों लेख लिखे। उनमें से कुछ अब भी अप्रकाशित हैं। विश्वविद्यालय प्रकाशन के उत्साही अधिष्ठाता श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने कविराजजी के कुछ अप्राप्य लेखों को एकत्र कर एक संग्रह के रूप में प्रकाशित किया है जिससे जिज्ञासु पाठकों का बहुत उपकार होगा। वह हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस संग्रह में प्रकाशित प्रत्येक लेख एक अमूल्य रत्न है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। 'श्रीचक्र' शीर्षक लेख में कविराजजी ने विश्वसृष्टि के विषय में, तंत्र की जो मार्मिक दृष्टि है, उसका बहुत ही मनोरम चित्रण किया है। इसका विस्तृत वर्णन तंत्र सद्भाव में मिलता है। तंत्र सद्भाव एक अद्भुत ग्रन्थ है। यह अभी तक अप्रकाशित है। कश्मीर के अपूर्व तंत्रसाधक स्वामी लक्ष्मणजू ने नेपाल से इसकी एक प्रति प्राप्त की है, किन्तु वह नेवारी लिपि में लिखी हुई है जिसका अभी तक नागरी लिपि में प्रकाशन नहीं हुआ है। क्षेमराज ने विश्वसृष्टि के विषय में अपनी शिव-सूत्र की व्याख्या में एक संक्षिप्त उद्धरण दिया है। उस संक्षिप्त उद्धरण के आधार पर कविराजजी ने अपने लेख में विश्वसृष्टि के विषय में जो विस्तृत वर्णन दिया है उससे पाठक चकित हो उठता है।

ऐसे ही 'प्रेमसाधना' शीर्षक लेख में कविराजजी ने कुछ तथ्य ऐसे दिये हैं जिनसे उनकी मौलिकता सिद्ध होती है। उनका कहना है कि यथार्थ प्रेमसाधना के लिए पहले भावसाधना आवश्यक है। भावसाधना है स्वभाव की साधना, इत्यादि।

इस संग्रह का प्रत्येक लेख गाम्भीर्यपूर्ण है। कई बार पढ़ने पर ही वह समझ में आ सकता है किन्तु समझ में आने पर अज्ञानतिमिर का अपसारण हो जाता है।

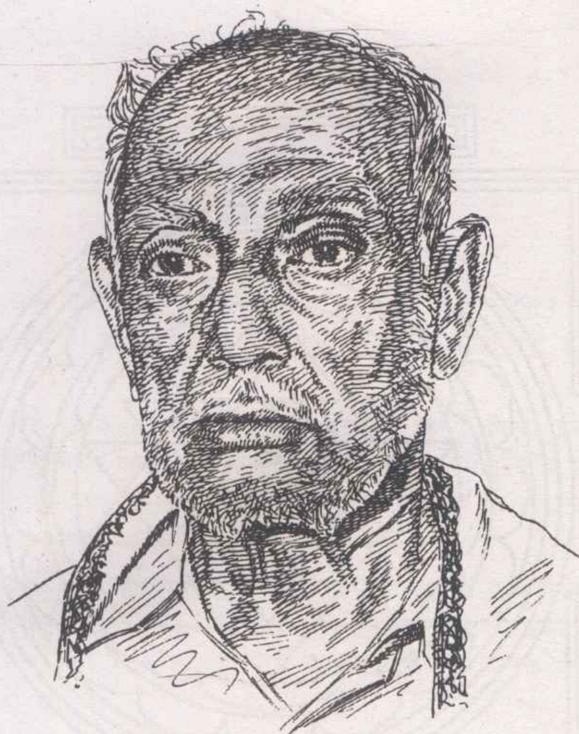
आशा है इस संग्रह से जिज्ञासु पाठक लाभान्वित होंगे।

विश्राम कुटीर
सिद्धगिरिबाग, वाराणसी —जयदेव सिंह

अनुक्रम

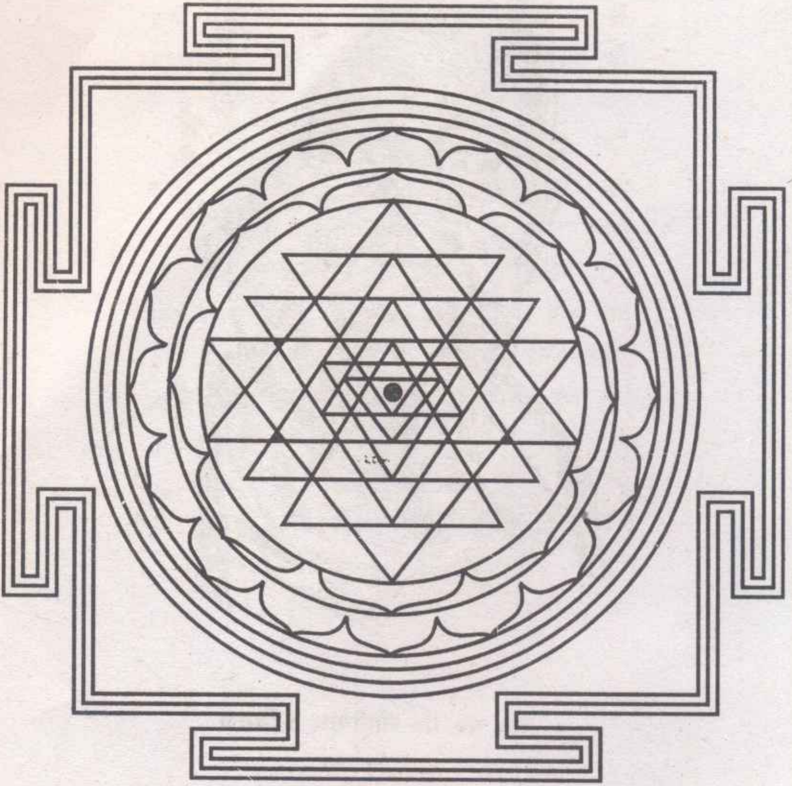
साधना की विधि गुरु द्वारा जानी जाती है। ग्रन्थों में किसी भी साधना की विधि बतलाने से अनाचार की ही वृद्धि होती है क्योंकि साधना की विधि ग्रन्थों में पढ़कर साधक ठीक-ठीक नहीं जान सकता। वह तो गुरु द्वारा ही जानी जाती है, यही कारण है कि मैंने अपने ग्रन्थों में साधना की विधियाँ नहीं बतलायीं। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणापानसमानयो:' अर्थात् अपान वायु में प्राण वायु और प्राण वायु में अपान वायु का हनन करना चाहिए, यह क्रिया बिना गुरु द्वारा समझे क्या कोई समझ सकता है ?

—म० म० पं० गोपीनाथ कविराज



म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

आविर्भाव : ७ सितम्बर १८८७ तिरोभाव : १२ जून १९७६



श्रीयन्त्र

१

श्रीचक्र

विश्वसृष्टि के सम्बन्ध में प्राचीन तथा नवीन जागतिक साहित्य में विभिन्न प्रकार की चर्चाएँ हैं। प्रत्येक धारा के विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि का उल्लेख किया है।

नि:सन्देह यह कहा जा सकता है कि इनमें से प्रत्येक विचार एक विशिष्ट दृष्टिकोण और परिगृहीत सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित है। इस लेख में भारतीय प्रस्थान के अन्तर्गत शाक्त सम्प्रदाय के एक विशिष्ट दृष्टिकोण से सृष्टितत्त्व के सम्बन्ध में कुछ बातों की चर्चा संक्षेप में करूँगा।

विश्वसृष्टि और व्यक्तिगत देहसृष्टि मूलत: एक बात है। तांत्रिकों का कहना है—जिसे योगीगण श्रीचक्र का आविर्भाव कहते हैं, यह उनका ही प्रकारभेदमात्र है अर्थात् चक्र का उदय जगत् की सृष्टि एवं आत्मा का देहादि से युक्त होकर प्रकट होना, एक ही बात है।

शाक्तमत से समग्र जगत् की जड़ में जो अखण्ड सत्ता है, वह एक ओर विश्व का उपादान एवं निमित्त स्वरूप दोनों ही है। उसका ह्रास या वृद्धि नहीं है, वह अनन्त, अनादि, स्वप्रकाश और चिदानन्दस्वरूप है। शाक्तों का कहना है कि इस स्थिति को शिव और शक्ति की अद्वैतावस्था कहा जा सकता है।

शिव के रूप में वह उदासीन है, निष्क्रिय और निरपेक्ष द्रष्टा एवं शक्ति रूप में वही भावी विश्व का उपादान है। शिव-शक्ति अभिन्न होने पर भी शिव तटस्थ और शक्ति संकोच-प्रसारशील है।

प्राचीनकाल के योगियों ने जागतिक सत्त्व के सहारे कौशलपूर्वक परमतत्त्व को समझाने की चेष्टा की है। उन लोगों का कहना है—जिसे हम लोग व्यवहार मुख से शिव कहते हैं, वह भी वास्तव में शक्ति का एक पृष्ठ है, क्योंकि जो वास्तव में शिव हैं उन्हें भी शक्ति के अभाव में किसी प्रकार से शिव नहीं कहा जा सकता, उनके बारे में किसी प्रकार का वर्णन संभव नहीं है।

"शक्त्या विना पर शिवे नाम धाम न विद्यते।"

संसार की जड़ में मूलतः इसी शक्ति के दो विरुद्ध रूपों का खेल विद्यमान है। ये दोनों शक्तियाँ किसी स्थिति में समरस एवं अद्वयभाव से अविभक्त रूप में विद्यमान हैं तथा अपर स्थिति में यही विषमभाव में परस्पर-परस्पर के ऊपर क्रिया करती रहती हैं।

इन दोनों शक्तियों में एक अग्नि' एवं दूसरा 'सोम' यानी शीतल है। अग्नि दुःखप्रद है, पर सोम आनन्दप्रद है, अग्नि मृत्युरूप या काल का रूप है, पक्षान्तर से सोम अमृतरूप है। अग्नि अविभक्त वस्तु को विभक्त कर प्रकट करता है, किन्तु सोम विभक्त वस्तु को समष्टि (अविभक्त) रूप या एक रूप में संहत करता है। अग्नि प्रकाशरूप है और सोम विमर्शरूप है। अग्नि एवं सोम जब साम्य में रहते हैं तब अग्नि की क्रिया किसी तरह से भी प्रकट नहीं होती।

अग्नि की क्रिया है संहार और सोम की क्रिया है सृष्टि। अग्नि और सोम साम्य में स्थित हों तो सृष्टि तथा संहार कोई भी क्रिया नहीं रहती। यही नित्य स्थिति की अवस्था है, इसका नाम रवि या सूर्य अग्नि और सोम का नित्य समरस अद्वय स्थिति काम, रवि या सविता के नाम से प्रसिद्ध है। इस दृष्टिकोण से सूर्य-विज्ञान का मूल सूत्र प्राप्त होता है अर्थात् सृष्टि और संहार की जो अखण्ड शक्ति विद्यमान है, वही सूर्य है।

अग्नि और सोम की वैषम्य अवस्था में जब सोम की प्रधानता होती है तब सृष्टि होती है। जब अग्नि की प्रधानता होती है तब संहार होता है। सूर्य या कामतत्त्व अद्वैत है। यही काम की कला अग्नि है और अपर कला चन्द्र। इसी कामकला तत्त्व के अन्तर्गत बिन्दुत्रय के विवरण हैं। साम्य अवस्था में स्थिति रहती है, किन्तु वैषम्य अवस्था में अनन्त प्रकार की क्रियाएँ दिखाई देती हैं।

अग्नि के स्पर्श से सोम विगलित होकर क्षारीय होता रहता है। इस अवस्था में अग्नि का स्पर्श रहने पर भी सोम की प्रधानता रहती है। इस क्षरण से सृष्टि का उदय होता है। तंत्रशास्त्र के मत से हार्द्धकला नामक चित्कला का उदय इसी रूप में होता है क्योंकि वास्तविकता यह है कि चित् निष्कल है। दूसरी ओर अग्नि के प्रभाव से सोम वाष्प रूप में जब परिणत हो जाता है तब सोमकला अव्यक्त हो जाती है। यही संहार का द्योतक है। इस जगह सोम के रहने पर भी अग्नि की क्रिया ही प्रधान है अर्थात् अग्नि और सोम के संसर्ग से सोम की प्रधानता के कारण सृष्टि होती है और अग्नि की प्रधानता से संहार होता है।

जिन लोगों ने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया है, वे यह जानते हैं कि वर्तमान विश्व का निर्माण कुछ मूलतत्त्वों से हुआ है। शाक्तों और शैवों ने काफी विचार करने के बाद इन मूल तत्वों की संख्या ३६ बतायी है।

३६ तत्वों के द्वारा ही समग्र विश्व की रचना हुई है। माया के भीतर या माया के बाहर, किन्तु विशुद्ध माया के भीतर असंख्य लोक-लोकान्तर या भुवनावली विद्यमान है। विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि इन सभी में ३६ तत्त्व विराजमान हैं, पर स्तरभेद में तारतम्य है।

किसी स्तर में एक तत्त्व की प्रधानता है तो अन्य स्तर में अन्य तत्त्व की प्रधानता है। फिलहाल इन सभी तत्वों को नित्य समझ लिया गया है और एक हिसाब से यह सत्य भी है, कारण व्यावहारिक अधः ऊर्ध्व जगत् की जड़ में यही रहते हैं।

किन्तु, वास्तव में ये सभी तत्त्व नित्य नहीं हैं। सभी तत्त्व ही कला के उपादान में आविर्भूत हुए हैं, इसीलिए तत्त्व मात्र ही कलामय है। तत्त्व का विश्लेषण करने पर चरम में एकमात्र कला ही अवशिष्ट रहती है।

अब सवाल हो सकता है कि कला से तत्त्व की उत्पत्ति होती है, यह सत्य है, पर यह कला कहाँ से उद्भूत होती है या इसका स्वरूप कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना चाहूँगा कि ज्ञान की ऊर्मि से, ज्ञेयरूप में जिस प्रथम आभास की सृष्टि होती है, वह कलनात्मक है, इसे ही कला-सृष्टि की सूचना समझना चाहिए क्योंकि मूल में प्रमाण से प्रमेय पृथक् नहीं है।

प्रमाण के क्षुब्ध-भाव से प्रमेय की सृष्टि होती है। प्रमाता से जिस प्रकार प्रमाण का आविर्भाव होता है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञाता से ज्ञान का आविर्भाव होता है, उसी प्रकार प्रमाण से या ज्ञान से प्रमेय या विषय का आविर्भाव होता है । इस बारे में यहाँ अधिक चर्चा करना संभव नहीं है।

पराशक्ति जो परम शिव के साथ अभिन्न हैं, जब वे आत्मा या परमात्मा का स्फुरण देखने की इच्छा करती हैं तब यथाविधि क्रमानुसार सृष्टि का स्फुरण होता है।

इस महाशक्ति के गर्भ में उसके साथ अभिन्न रूप में समग्र विश्व विद्यमान रहता है। यह महाशक्ति से कदापि पृथक् नहीं है, यहाँ तक कि पृथक् रूप से प्रतिभासमान भी नहीं है। किन्तु महाशक्ति की सृष्टि की इच्छा जाग्रत् होने पर विश्व उसके साथ अविभक्त रहते हुए भी, परिच्छिन्न प्रमाता के निकट विभक्त रूप में प्रतिभासमान हो सकता है।

तांत्रिक आचार्य इस घटना को विसर्ग-क्रिया कहते हुए व्याख्या करते हैं। शक्ति में कार्य अविभक्त रूप में विद्यमान रहना बिन्दु की बात है एवं उसमें अविभक्त होते हुए विभक्त रूप में प्रतिभासमान होना विसर्ग की बात

है। जिसे सृष्टि कहा जाता है, वह विसर्ग के अलावा अन्य कोई कुछ नहीं है।

योगियों का कहना है कि सृष्टि के विषय में जितने स्तर लक्षित होते हैं, उनमें प्रथम बिन्दु, दूसरा मूल त्रिकोण जिसकी तीनों भुजाएँ और तीनों कोण समान हैं। इसके बाद अष्ट कोण, इसके बाद क्रमशः आभ्यन्तरीण और बाह्य दस कोण, अष्ट दल, षोडश दल एवं सबसे अन्त में तीन वृत्त और चतुरस्त्र या चतुष्कोण।

चतुरस्त्र ही सृष्टि की बाहरी दीवार है, यहीं सृष्टि का अवसान होता है। क्षुद्र सृष्टि और विराट् सृष्टि दोनों ही एक ही नियम हैं। चतुरस्त्र को तांत्रिक परिभाषा में 'भूपुर' कहा जाता है। बिन्दु से चतुरस्त्र तक अथवा चतुरस्त्र से बिन्दु तक विश्व का विस्तार चाहे किसी प्रकार की सृष्टि क्यों न हो, उसके बाहर चतुरस्त्र और भीतर बिन्दु अवश्य रहेगा।

शिव प्रकाशात्मक हैं तो शक्ति विमर्शरूपिणी। शिव चिद्रूप एवं शक्ति पूर्ण अहन्तानिमित्तिक आनन्दरूप हैं। फलतः मूल में शिव-शक्ति चिदानन्दस्वरूप हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

समग्र सृष्टि का जो मध्य बिन्दु है, वही सर्वोच्च बिन्दु है। इसी बिन्दु से सर्वप्रथम त्रिकोण का आविर्भाव होता है। इस त्रिकोण के रहस्य का महायोगी के अलावा अन्य कोई उद्घाटन नहीं कर सकता। समस्त विश्व का केन्द्र महाशक्ति है जिसकी आत्मप्रकाश भूमि के रूप में इसी त्रिकोण की अभिव्यक्ति है।

कामकला का जो साम्य भाग है अर्थात् काम या सूर्य, वह हर वक्त साम्यावस्था में रहता है। उसका साम्य भंग कभी नहीं होता, वही महास्थिति रूप है। किन्तु कामकला का जो वैषम्य भाग है, उस ओर निरन्तर सृष्टि और संहारचक्र का आवर्त्तन चल रहा है।

सृष्टि और संहार के बीच एवं संहार और सृष्टि-चक्र के बीच आभास या सापेक्ष रूप में स्थित बिन्दु का आभास प्राप्त होता है। अतएव यह कहना असंगत नहीं है कि सृष्टि, स्थिति और संहार तो निरन्तर हो रहा है।

भीतर प्रवेश करने पर देखा जा सकता है कि सृष्टि का जो मूल है एवं संहार का जहाँ अवसान है, वहाँ भी निरन्तर क्रिया चल रही है अर्थात् तिरोधान या निग्रह-शक्ति तथा अनुग्रह-शक्ति की लीला, विश्व की पृष्ठभूमि में निरन्तर स्वाभाविक रूप से जारी है। जो एक हैं, वे अपने स्वतंत्र बल से अपने को नाना रूपों में प्रकट कर रहे हैं, यही उनका तिरोधान है।

एक को अवलम्बन कर नाना उद्भूत होता है। प्राचीन वेदान्तदृष्टि के अनुसार

मूल अविद्या का आवरण और विक्षेप का केन्द्र यहीं है। नाना जब अपना मूल एक स्वरूप में परिवर्तित करता है तब समझ लेना चाहिए कि यह अनुग्रह-शक्ति की लीला है।

अनुग्रह-शक्ति के अलावा जो संहार होता है, वह वास्तविक संहार नहीं होता। कारण, उस अवस्था में जड़ता रहती है एवं संहार के बाद पुनः सृष्टि के आवर्त्त में लौट आना पड़ता है। यह संहार वास्तव में आत्म-स्वरूप प्रत्यावर्त्तन नहीं, यह काल की लीलामात्र है।

सृष्टि के मूल में है बिन्दु—यही महाबिन्दु के नाम से परिचित है। प्रकाश या शिवांश एवं विमर्श या शक्ति अंश साम्यभाव में यदि रहे तो उसे बिन्दु रूप में ग्रहण किया जा सकता है। पर इसके भीतर एक रहस्य है। स्मरण रखना होगा कि स्थूल सृष्टि के पूर्व चित् शक्ति की लीला है।

चित् शक्ति निज स्वरूप अर्थात् आत्मा को नींव बनाकर उसके ऊपर विश्व की रचना करती है, अर्थात् उसमें निहित अव्यक्त विश्व को पहले परिस्फुट करती है या स्पष्ट कर देती है। इसके बाद उसे इदं रूप में ग्रहण करती है।

इस प्रकार प्रकाश की नींव में प्रकाशमान चित्तरूपी विश्व इदं रूप में तैरने लगता है। जो विश्व पूर्ण अहं के मध्य अहंरूप में विद्यमान था, वह आभास रूप में इदं-प्रतीति का गोचर होकर चित्तरूप में उन्मीलित होता है। स्थूल सृष्टि की इच्छा घनीभूत होने पर यही आभासरूपी विश्व स्थूल रूप में परिणत होता है।

इसमें क्रियाशक्ति तक शक्ति की लीलाएँ हैं, कारण क्रियाशक्ति की घटना के अलावा आभास घनीभूत साकार रूप में परिणत नहीं हो सकता।

बिन्दु की बातें कही चुका हूँ। सृष्टि के मुख पर एक ही बिन्दु त्रिधा विभक्त होकर बिन्दुत्रयरूप में आविर्भूत होता है अर्थात् समष्टि में जो एक बिन्दु है, व्यष्टि में वह होता है तीन बिन्दु।

प्रकाशांश और विमर्शांश दोनों का मूल, सृष्टि का मूल है। प्रकाशांश को अम्बिका एवं विमर्शांश को शान्ता की संज्ञा दी गयी है। अम्बिका—वामा, ज्येष्ठा और रौद्री इन तीन शक्तिरूपों में अभिव्यक्त होती है। तद्रूप शान्ता—इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप में अभिव्यक्त होती है। अम्बिका और शान्ता जहाँ सामरस्यभावापन्न हैं उसी का नाम मूलबिन्दु या समष्टिबिन्दु है। तद्रूप तीन व्यष्टि बिन्दुओं को समझना होगा। इन तीनों बिन्दुओं में प्रथम वामा और इच्छा का सामरस्य रूप, द्वितीय ज्येष्ठा और ज्ञान का, और तृतीय रौद्री तथा क्रिया का सामरस्य रूप है।

कहना न होगा कि ये तीनों बिन्दु मूल त्रिकोण के तीन बिन्दु हैं। जिसे मूल बिन्दु कहा है वह उसी मूल त्रिकोण का मध्य बिन्दु है। अम्बिका के साथ शान्ता का सामरस्य होने पर जिस बिन्दु की अभिव्यक्ति होती है—वही परावाक् के नाम से प्रसिद्ध है।

परासत्ता या सदाशिव इसी मूल बिन्दु का अवस्थान्तर है। तद्रूप वामा और इच्छा उभयशक्ति के सामरस्य में जो बिन्दु प्रकट होता है, उसका नाम है—पश्यन्ती वाक् । ज्येष्ठा और ज्ञान के साम्य से जो बिन्दु प्रकट होता है, उसका नाम है—मध्यमा, वाक् तथा रौद्री और क्रिया के तादात्म्य से जिस बिन्दु का आविर्भाव होता है, उसका नाम वैखरी वाक् है।

यह त्रिकोण उद्भूत हुआ। इसका मध्य बिन्दु परामातृका तथा शेष तीनों ओर के तीन बिन्दु पश्यन्ती आदि तीन मातृका समझना चाहिए। इस त्रिकोण की बार्यी ओर वाली वक्र रेखा पश्यन्ती वाक् का प्रसार, ऊर्ध्ववाली या सामनेवाली सरल रेखा मध्यमा का प्रसार तथा दक्षिणवाली प्रत्यावर्त्तनमुखी रेखा वैखरी वाक् के नाम से परिचित है। यही योनिस्वरूप विश्वमातृका का संक्षिप्त परिचय है। शब्दब्रह्मविद् लोग इसी का चिन्तन करते हैं।

सृष्टि का नियम है कि ज्ञान से शब्द का उद्भव होकर शब्द से अर्थ का आविर्भाव होता है। ज्ञान में जो कुछ आत्मगत रूप में प्रतीत होता है, शब्द में वही आत्मा से अनात्म रूप में विच्छुरित होता रहता है।

इसके बाद शब्द से अर्थस्तर तक आने पर सृष्टि की क्रिया सम्पन्न होती है। रहस्यविद् भर्तृहरि ने कहा है कि तत्त्व से अर्थ का आविर्भाव होता है। अनादि, अनन्त शब्दतत्त्व को उन्होंने मूल तत्त्व माना है। वही अक्षरस्वरूप है, वही अर्थरूप से विवर्तित होता है। जिस मत के अनुसार शब्द-ब्रह्म का अतीत परब्रह्म स्वीकृत होता है, तदनुसार शब्दातीत परब्रह्म से शब्द एवं शब्द से अर्थ प्रकट होता है।

प्रस्तुत लेख में शब्द से अर्थ की स्फूर्ति स्वीकार की गयी है, साथ ही साथ यह भी स्वीकृत हो गया है कि शब्दों में स्फूर्ति होती है शब्दातीत चैतन्य से। यही शब्द अर्थरूप में परिणत होता है। वास्तव में शब्द और शक्तिविशेष अर्थ उसका बहिर्विलासमात्र है।

विषय को जरा और स्पष्ट करके बता दे रहा हूँ। मूल में जिन निष्कल परमपदों की बातें हैं, वही परमशिव, पराशक्ति अथवा महाशक्ति एवं वही विश्व के परमस्वरूप हैं। वह एक सत्ता है। उस समय विश्व महाशक्ति के साथ एक, महाशक्ति परमेश्वर के साथ एक एवं परमशिव परम अव्यक्त के साथ एक है। यही निष्पन्द स्थिति है। इसमें स्वातंत्र्ययोग स्पन्दन होता है। स्वातंत्र्य, इस स्थिति में परम सत्ता से अभिन्न है, इसलिए इसका योग भी एक हिसाब से नित्ययोग है, कहना पड़ेगा।

इस दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि स्पन्दनहीन सत्ता में निरन्तर स्पन्दन हो रहा है और यह भी कहा जा सकता है कि यह केवल एक बार हुआ एवं उसकी कभी निवृत्ति नहीं हुई है।

साथ ही साथ यह भी सत्य है कि निस्पन्द सत्ता की निस्पन्दता कभी क्षुण्ण

नहीं होती। बुद्धि इसकी धारणा कभी नहीं कर पाती। किन्तु आत्मा स्वानुभव के द्वारा इसे परिस्फुट रूप में पकड़ लेती है, कारण प्रमाण के गोचर न होने पर भी इसका नित्य प्रकाश होता है।

शुद्ध स्पन्दन की बहिर्मुखता के साथ-साथ उसी एक में मानो वैचित्र्य तैरता रहता है। तब शिव, शक्ति और विश्व जरा अलग-अलग रूप में तैरते हैं जब कि योग छिन्न नहीं होता।

इसीलिए शिव जैसे शक्ति के उन्मुख होते हैं और शक्ति बहिर्मुख होती है अर्थात् जैसे शिव के अखण्ड स्वरूप में सांशता व्यक्त होती है जिसके लिए उसका एक अंश उसी में युक्त रहते हुए पृथक् रहता है।

यही शक्ति है एवं यह भी सांश नहीं। पूर्ववत् उसका भी एक अंश उसी से युक्त रहते हुए जैसे पृथक् हो जाता है। यह अंश विश्व है। शक्ति-गर्भ में ही यह प्रकट होता है और शक्ति के साथ युक्त रहता है।

मानों यह शक्ति का गर्भाधान है। इसके बाद जब वह विश्व शक्तिगर्भ से पृथक् होता है, वही सृष्टि है। यह प्रसव-घटना के अनुरूप एक घटनाविशेषमात्र है। इसमें शक्ति सृष्टि करती है और शिव तटस्थ रहते हैं या उदासीन।

अथवा शिव का कर्तृत्व स्वीकार करते हुए शक्ति को सहकारी अथवा कारणरूप में ग्रहण किया जाता है। प्राचीन आगमों में सृष्टि के बारे में मायिक सृष्टि के पूर्ववर्ती सृष्टि को आदिसर्ग कहा गया है। यही आदिसर्ग परमेश्वर की सृष्टि का इच्छा-निबन्धन है एवं वह अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में भासमान विश्व है। माया द्वारा सृष्टि की इच्छा होने पर वे अपने स्वातंत्र्य-बल से अपने आत्मरूपी दर्पण में, अनन्त ग्राह्य और अनन्त ग्राहक अविच्छिन्न रूप में प्रतिभासमान करते हैं।

यह सब ग्राह्य और ग्राहक आभासरूपी भाव हैं। ये सभी परमेश्वर के निजी अंग रूप में वर्णित होने योग्य हैं। मायिक सृष्टि में ये सभी विचित्र भावराशि के मध्य से जितने देह, प्राण और बुद्धि शून्य है, उन सभी को अपना अहन्तारूप कर्तृत्व अर्पण करते हैं।

इस क्रिया के फलस्वरूप वे सब आभासरूपी भाव ग्राहक रूप धारण करते हैं। इसके अलावा शब्द, स्पर्शादि भावराशि इदं-प्रतीति के विषयीभूत हैं, इसलिए उन्हें चिद्रूपतारहित अथवा अचिद्रूप में प्रकट करते हैं।

ये सब होते हैं उन सभी ग्राहकों के ग्राह्य। इसीलिए देहादि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व अपनी आत्मा में धारण करते हैं तथा तद्भिन्न शब्दादि कार्यत्व और ज्ञेयता धारण करते हैं। इसके प्रभाव से एक अजड़ और दूसरा जड़ के नाम से परिचित है। मूल में जड़-अजड़ नामक कोई पृथक् वस्तु नहीं है। इसमें भी नाना विचित्रता है और अनेक तारतम्य भी हैं। शब्दादि जड़ के भी हैं और देहादि अजड़ के भी हैं। अजड़ की

विचित्रता संताप भेद में तो है ही, इसके अलावा बन्धनों के तारतम्य भेद में भी है।

प्रमातृगणों के संकोच विभिन्न प्रकार के हैं और गति भी विभिन्न प्रकार की। शक्ति की दृष्टि से आदि स्पन्दन की परिणामगत प्रणालियाँ हैं—मूल में जो निष्कल और निष्पन्द है, स्पन्दनयोग में वही शिव-शक्ति इसका मूल बिन्दु है। यह ठीक ब्रह्म नहीं है, पर ब्रह्मबिन्दु है।

स्मरण रखना होगा कि सृष्टि की उन्मुख दशा ही बिन्दु है। यह प्रपंचहीन और निराकार है। वर्ण प्रतीक रूप में यही 'अः' शून्याकार विसर्गान्त बिन्दु है।

यह स्पन्दमयी संवित् के अलावा और कुछ नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही प्रकाश-स्वरूप है। ब्रह्म भी प्रकाशस्वरूप है, पर यह ब्रह्म नहीं है, कारण इसमें स्फुरत्ता लहरी है, ब्रह्म में यह नहीं है।

यही सामरस्य स्थिति है। इसी का नामान्तर नाम है—काम, जो सृष्टि का प्रवर्त्तक है। आगम की परिभाषा में इसका नाम रवि है। स्पन्दन अवस्था में जब इसका साम्य भंग होता है तब दो बिन्दु पृथक् हो जाते हैं। एक अग्नि बनता है और दूसरा सोम।

अग्नि और सोम की साम्यावस्था ही काम और रवि है। वैषम्य अवस्था में अग्नि और सोम पृथक्-पृथक् रहते हैं। साम्यभंग में अग्नि की क्रिया पृथक् और सोम की क्रिया भी पृथक् होती है। अग्नि सक्रिय होकर सोम बिन्दु को स्पर्श करता है एवं सोम बिन्दु विगलित होकर क्षरित होता रहता है। सोम सक्रिय होकर अग्नि बिन्दु को स्पर्श करता है तब अग्नि प्रदीप्त होकर सोम का शोषण करता है। सोमरस के क्षरण से सृष्टि होती है और क्षरण बन्द होते ही संहार होता है।

संहारकाल में सोम का क्षरण नहीं होता, आहुति रहती है। आहुति में संहार होता है, क्षरण में सृष्टि। स्थिति में क्षरण और आहुति साथ-साथ होते हैं। प्रकारान्तर स्थिति में आहुति भी नहीं, क्षरण भी नहीं। यह जो साम्यमय काम बिन्दु है, वह दो बिन्दुओं का साम्यस्वरूप है जिनमें एक का नाम अग्नि और दूसरे का नाम सोम है। अग्नि रक्तवर्ण है, और सोम शुक्लवर्ण। इसी महाबिन्दु से बैन्दव चक्र या मध्य चक्र की रचना होती है। इसके उपादान पूर्ववर्णित क्षरित अग्नि-पृष्ठ सोमधारा है जो संवित्, चित्कला या हार्द्धकला के नाम से प्रसिद्ध है। यह सोम प्रधान होने पर भी अग्नीषोमात्मक है।

इस मध्य चक्र या त्रिकोण की दो दिशाएँ हैं—एक आन्तर और दूसरा बाह्य। आन्तर त्रिकोण पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन तीनों मातृकाओं द्वारा निर्मित है। परामातृका या परावाक् से ये तीनों मातृकाएँ उद्भूत होती हैं। बाह्य चक्र का वैखरी रूप तत्त्वात्मक है। इसी को हम विश्व कहते हैं। जिस स्थिति में शिव और शक्ति सर्व प्रकार से अभिन्न हैं, वह निष्कल है, इसीलिए निरंश है। शिव और शक्ति दोनों

ही निरंश हैं। इसे साम्य समझने की गलती न की जाय, क्योंकि इस अवस्था में दोनों नहीं हैं। जो है नित्य सिद्ध एक है। जब स्पन्दन है तब कहना पड़ेगा कि परम शिव भी सांश है और परम शक्ति भी सांश । परम शिव का अंश अम्बिका तथा पराशक्ति का अंश शान्ता, अम्बिका और शान्ता का सामरस्य ही महाबिन्दु, यही काम है। कहना न होगा कि इस दृष्टि से यह महाबिन्दु भी जान-अजान नहीं है। जब विमर्शरूपा पराशक्ति परशिव के स्फुरण पश्यन्त्यादि क्रम में, वैखरी तक देखने की इच्छा प्रकट करती है तब परमाशक्ति अंश रूप में शान्ता होकर प्रकाशांश अम्बिका का सामरस्य प्राप्त करती है। इसी का नाम परावाक् है। इस परावाक् में ३६ तत्त्वमय विश्व बीजरूप में निहित रहता है। बीज के भीतर जिस प्रकार वृक्ष रहता है, समस्त विश्व भी उसी प्रकार परावाक् के भीतर अति सूक्ष्म रूप में निहित रहता है।

जब गर्भ से विश्व को परिस्फुट किया जाता है अर्थात् निस्तारित किया जाता है तब उस शक्ति का नाम होता है—वामा। वामा अंकुश की भाँति प्रतीयमान होती है। यही मूल त्रिकोण की वाम रेखा—यही इच्छाशक्तिरूपा पश्यन्ती है।

ज्ञानशक्तिरूपा ज्येष्ठा मध्यमा वाक्—यही मूल त्रिकोण की अग्ररेखा या सरल रेखा है। अम्बिका और शान्ता शक्ति का साम्य होने पर शब्दब्रह्म जिस रूप में प्रकाशित है, उसका नाम है—परा।

तद्रूप इच्छा और वामा शक्ति का साम्य होने पर शब्दब्रह्म का द्वितीय रूप पश्यन्ती का आविर्भाव होता है। ज्ञान और ज्येष्ठा का साम्य होने पर शब्दब्रह्म का तीसरा रूप मध्यमा प्रकट होता है एवं अन्त में क्रिया और रौद्रशक्ति के साम्य में शब्दब्रह्म का चौथा रूप वैखरी प्रकट होता है। पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्रकाश की अंशभूता शक्ति समरस होती है, किन्तु जब वह विमर्श के अंश के साथ समरस होती है तब रूपमयी होती है। यही रूप वाक् है।

वाक् के गर्भ में अर्थ या तत्त्व है अर्थात् विश्व। सृष्टि की जड़ में जो त्रिकोण है, वह वाङ्मय है। इनमें तीनों रेखाएँ तीन वाक् के स्वरूप हैं, और मध्य बिन्दु परावाक् है ।

एक बात और है। परावाक् में विश्व है, किन्तु वह गर्भस्थ वामा में प्रसूत, ज्येष्ठा में वह विकसित और वैखरी में वह पूर्ण विग्रहधारी है। वैखरी क्रियाशक्ति का स्तर है, इसीलिए इसमें साकारता अधिक स्पष्ट है अर्थात् पश्यन्ती-अर्थ वाक् के साथ अभिन्न रूप में आविर्भूत होता है। मध्यमा में यही अर्थ अभिन्न रहते हुए भी भिन्नवत् प्रतीयमान होता है, एवं वैखरी में वह वाक् से सम्पूर्ण भिन्न होकर पूर्ण विकसित रूप में प्रकट होता है। यह कहा जा सकता है कि निर्गम पूर्ण हो गया है।

ल—क और क—ख सृष्टि, रं—ग स्थिति, ग—क और ल—क संहार हुआ। बिन्दु से सृष्टि होती है, फिर संहार होने पर बिन्दु में प्रवेश होता है। यही मध्य त्रिकोण

अम्बिकास्वरूप है। तीन रेखाओं और पन्द्रह स्वरवर्ण द्वारा इसकी रचना हुई। बायीं रेखा में प्रथम पाँच स्वरवर्ण हैं, ऊर्ध्व रेखा में द्वितीय पाँच स्वरवर्ण एवं दक्षिण रेखा में हैं अन्तिम पाँच स्वरवर्ण।

इस प्रकार अ से लेकर अं तक पन्द्रह स्वरवर्णों से त्रिकोण की रचना हुई है। त्रिकोणवाला बिन्दु अः अर्थात् षोड़श स्वरवर्ण हैं, यही सदाशिव है, यही आसनस्वरूप है। इस आसन में शिव, शक्ति, परमेश्वर, परमेश्वरी नित्य आसीन हैं अर्थात् प्रलयानलरूपी शिव और चित्कलारूपी शक्ति अभिन्न रूप में उक्त आसन में सर्वदा विराजमान रहते हैं।

इसी चित्कला से सृष्टि होती है और संहार होता है उक्त प्रकाशरूपी संहारानल से। चित्कला बहिर्मुख और प्रकाश अन्तर्मुख, जब कि दोनों ही अभिन्न हैं। ३६ तत्त्वों का विलयन इसी अग्नि में होता है तथा इनका आविर्भाव होता है उसी चित्कला से। प्रस्तुत अनल वास्तव में अनुत्तर-प्रकाश का प्रतीक है, वही 'अ' एवं चित्कला ही अन्तिम कला या अर्द्धकला के साथ मिलकर अहं के रूप में प्रकट होता है। तीनों रेखाएँ बराबर हैं। मध्य बिन्दु से उत्पन्न होने के कारण त्रिकोण अम्बिका नाम से प्रसिद्ध है।

अन्तरतम बैन्दव चक्र से नौ त्रिकोणात्मक नवयोनि चक्र उद्भूत होता है। नव योनि के नव अवयव हैं—धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रमात्मक जीव, प्रमेय और प्रमा। यह नव योनि-चक्र भीतर और बाहर से चिदानन्दमय अर्थात् चैतन्य, कलामय और पूर्णाहन्ता स्फुरणात्मक आनन्दमय है।

यह देश, काल और आकार द्वारा अपरिच्छिन्न है। बैन्दव चक्र आभ्यन्तर है एवं नव योनि-चक्र बाह्य है। नव योनि-चक्र वैखरी वाङ्मय है। नव योनि-चक्र ही श्रीचक्र के नौ रूपों में परिणत होता है। भीतर से बाहर की ओर क्रमशः इतने चक्र हैं—

१. महाबिन्दु या सर्वानन्दमय चक्र।
२. त्रिकोण या सर्वसिद्धिप्रद चक्र।
३. अष्टकोण या सर्वरक्षाकर चक्र।
४.-५. दो दस कोण या सर्वार्थसाधक एवं सर्वरोगहर चक्र।
६. चतुर्दशार या सर्वसौभाग्यसाधक चक्र।
७. अष्टदल कमल या सर्वसंक्षोभक चक्र।
८. षोड़शदल कमल या सर्वाशापरिपूरक चक्र।
९. तीन चतुरस्र या भूपुर या त्रैलोक्यमोहन चक्र।

त्रिकोण के तीन स्पन्दन से अष्टकोण का उद्भव होता है। यह त्रिकोण को घेरे रहता है। दस कोण दो हैं, एक आन्तर और दूसरा बाह्य। भीतरवाले दस कोणों

में नौ त्रिकोण और एक बैन्दव के चारों ओर स्फुरणशील दस प्रभाओं द्वारा रचित है। इसी से दस वर्णों की उत्पत्ति होती है। जैसे— य, र, ल, व, स, श, ष, ह, ल, क्ष।

पृथिव्यादि पंचभूत और गंधादि पंचतन्मात्रा या भूतसूक्ष्म ये दस वर्ण द्वारा प्रकाशित होते हैं। सभी वर्ण शक्तिरूप और अर्थ शिवरूप हैं। इनमें प्रकाश विमर्शमय है। दस कोण हैं, यह मध्यस्थ शिवशक्तिमय प्रभारूप है।

द्वितीय बाह्य दशार इसका छायास्वरूप है। इसके दस वर्ण हैं। क से अ तक सभी श्रीचक्र महाशक्ति या परसंवितों का आत्मप्रकाश है। मनुष्य का शरीर एवं विराट् विश्व इसी का रूपान्तर है।

भावना उपनिषद् में कहा है कि आन्तर याग या आत्मध्यान के वक्त उपासक को अपने शरीर को ही श्रीचक्र समझकर भावना करनी चाहिए। इस भावना की विशिष्टता यह है कि शरीर अथवा विश्व आत्मा से अभिन्न है, इसका ख्याल हमेशा रखना चाहिए।

बाह्य प्रपंचों की अभिव्यक्ति देश और काल दोनों के मिश्रणसापेक्ष है। भावनावादी कहते हैं कि चन्द्रमा की सुप्रसिद्ध पंचदली शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णिमा तक पन्द्रह तिथियों की द्योतक है।

इन सबको कामेश्वरी से चित्रा तक पन्द्रह नित्याओं के साथ अभिन्न समझना चाहिए। सादाख्य नामक प्रसिद्ध षोडशी कला को स्वयं परमेश्वरी ललिता के साथ अभिन्न समझना चाहिए। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि जो कुछ कालचक्र में पतित होता है, वह श्रीचक्र में नित्य विद्यमान नित्यवर्ग के साथ अभिन्न है।

तिथिचक्र अथवा कालचक्र निरन्तर आवर्त्तन कर रहे हैं।.................. श्रीचक्र इसके आभ्यन्तर में है, बाहर नहीं। इस प्रकार देशचक्र के संबंध में भी सोचना आवश्यक है। जम्बू द्वीप से मधुरोदक समुद्र तक भूमि और पानी के रूप में पृथ्वी का विभाग है, वही भावना का विषय है। याद रखना होगा कि जम्बू द्वीप के एक ओर मेरु और मधुरोदक समुद्र के दूसरी ओर परमव्योम है।

नित्यमंडल इसी प्रकार परिभ्रमण करता है जो प्रत्येक नित्या वार्षिक गति से एक के बाद एक विभाग के साथ संस्पर्श प्राप्त करता है। इसके कारण सभी नित्याएँ जैसे प्रथम वर्ष में मेरु से यात्रा आरम्भ करती हैं, वैसे ही देखा गया है षोडश वर्ष में वे सब परमव्योम से यात्रा आरम्भ करती हैं। ये सभी विषय तांत्रिक योग के अन्तर्गत हैं। इस बारे में अधिक लिखना व्यर्थ है।



२

श्रीमाता का मन्दिर

यह विश्व पराशक्ति श्री श्रीजगन्माता के विश्राम और लीला का नित्य निकेतन है। उनका लीला-क्षेत्र यही है एवं लीलातीत विश्रामभूमि भी यही है। सिद्ध योगीजन, अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार जो जिस मार्ग के पथिक हैं, माँ के मन्दिर का दर्शन करते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार विश्व के बहिरंग प्रदेशों में नित्य चल रहे हैं, किन्तु विश्व के अन्तर्गृह में किसी प्रकार की कलध्वनि नहीं है। वहाँ शान्ति परिवेश के मध्य माँ परमेश्वर के साथ सामरस्य प्राप्त करती हुई विराजमान है। वहाँ सृष्टि-संहार की कलध्वनि नहीं पहुँचती। विश्व-जननी और विश्व-पिता सभी द्वन्द्वों का परिहार करते हुए अखण्ड, अद्वयस्वरूप में वहाँ विराजमान हैं। वहाँ शक्ति का स्पन्दन एवं शिव का नित्य अस्पन्दनभाव अद्वय समरसस्वरूप में नित्य विद्यमान है। विश्व महाशक्ति का कार्य है। कार्यरूप में स्फुरित होने के पहले ही यह महाशक्ति के साथ सम्पूर्ण तादात्म्य प्राप्त करते हुए महाशक्ति के साथ ही विराजमान है एवं परमशिव पूर्ण ब्रह्मरूप में अपने स्वरूपभूत शक्त्यात्मक विश्व का नित्य दर्शन कर रहे हैं। कारण उनका स्वरूप प्रकट है। शिवभाव निष्क्रिय तथा निराकार है एवं शक्तिभाव सक्रिय और साकार। परमस्वरूप में वे एक महाबिन्दु के रूप में नित्य विराजमान हैं। महाबिन्दु में एक ही पूर्ण अखण्ड सत्ता विराजमान है। वह है परम अद्वय। वह शिव होते हुए शक्ति एवं शक्ति होते हुए भी शिव है।

विश्वरचना समझने के लिए धीर और स्थिर रूप में महाबिन्दु के स्वरूप और कृत्य पर गौर करना आवश्यक है। यह महाबिन्दु ही शास्त्रों के पारिभाषिक भाषानुसार कामरूपी बिन्दु है। पारमार्थिक दृष्टि-सम्पन्न ऋषियों ने इसे रवि अथवा आत्मारूपी सूर्य के नाम से जाना है। यही परमा स्थिति का सांकेतिक निदर्शन है। यही सृष्टि, स्थिति, संहार का समन्वित नित्य रूप है। दो विरोधी शक्तियाँ परस्पर आकर्षण और विकर्षण कर रही हैं। इस आकर्षण-विकर्षण की लीला में विश्व की सृष्टि और संहार की क्रिया नित्य चल रही है। किन्तु इस खेल के अन्तर्गत स्थितिरूप, स्थिर-बिन्दु नित्य अचलभाव से प्रतिष्ठित है। विरुद्ध दोनों बिन्दुओं में एक का नाम अग्नि और

दूसरे का सोम है। अग्नि तापस्वरूप है, इसका कार्य है संहार करना अर्थात् फैली हुई शक्ति को बटोर लाना। यही अग्नि और सोम अनन्त प्रकार की विरुद्धशक्ति के प्रतीकस्वरूप एवं स्थिति-बिन्दु सविता, समस्त विरोधों का समन्वयस्वरूप है। एक ओर स्थिति-बिन्दु नित्य स्थितिशील है, दूसरी ओर नित्य क्रियाबिन्दु अग्नि और सोमभाव को आश्रय बनाकर नित्य क्रिया करते चल रहे हैं, सृष्टि और संहार दोनों इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

विभिन्न ऋषि और विभिन्न सिद्ध पुरुष अपने इष्टभाव के माध्यम से इस सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रियाओं को समझने का प्रयत्न करते हैं, एवं इस प्रसंग में बाहर से भीतर प्रवेश करने एवं भीतर से बाहर आने का क्रम समझने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार विभिन्न चित्र, यन्त्र या चक्ररूप तन्त्रशास्त्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। प्रत्येक यन्त्र बाहर से भूपुर एवं सभी के ऊर्ध्व में बिन्दु एक साधारण तथ्य है। विशेष क्षेत्र में तारतम्य हो सकता है और है भी, किन्तु यहाँ उनके बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। हम प्रस्तुत लेख में इस विश्वचक्र का जो विशिष्ट स्वरूप प्रसिद्ध है, उस सम्बन्ध में किंचित् चर्चा करेंगे। इसे श्रीचक्र कहा जाता है। यही श्रीमाता का यन्त्र एवं विश्वरचना का एक प्रसिद्ध सांकेतिक प्रतीक है।

इस यन्त्ररूपी श्रीमाता के मन्दिर में सभी लोगों में एवं सभी के ऊर्ध्व में बिन्दु या महाबिन्दु का स्थान है। यहीं से सृष्टि का प्रवाह निर्गत होता है एवं यह प्रवाह यहीं आकर शान्ति प्राप्त करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हम महाबिन्दु के साम्यभाव को लक्ष्य करते हुए यह सब कह रहे हैं। यह महाबिन्दु निरन्तर स्थिर रहने पर भी निरन्तर गतिशील है। फलस्वरूप यह निस्पन्द होकर भी निरन्तर स्पन्दनमय है। इस महाबिन्दु में एक ओर जिस प्रकार दो विषम बिन्दुओं की क्रियाएँ हो रही हैं, दूसरी ओर उसी प्रकार एक समबिन्दु की क्रियाएँ नित्य चल रही हैं। इस दृष्टि से देखने पर एक बिन्दु ही तीन बिन्दु के रूप में कल्पित होता रहता है। इन तीन बिन्दुओं से तीन रेखाएँ उत्पन्न होती हैं। इन तीनों रेखाओं के परस्पर संयोग से एक त्रिकोण उत्पन्न होता है। यही त्रिकोणधाम विश्वसृष्टि के योनिस्वरूप मातृमण्डलरूप में गृहीत होता है। इस तथ्य को जरा विस्तार के साथ कह रहा हूँ। वेदान्तदर्शन में सूत्र है—'योनेः शरीरम्।' शरीररचना योनि के अधीन है। बिन्दु और योनि के संघर्ष से व्यष्टि और समष्टि समग्र विश्वक्रियाएँ निष्पन्न होती हैं। इस बात को जरा और साफ ढंग से कह दे रहा हूँ। सृष्टिमूल की पर्यालोचना करने पर समझ में आता है कि इसकी मूल सत्ता एक ओर निरंश और दूसरी ओर सांश है। निरंश सत्ता स्पन्दनहीन अथवा स्पन्दातीत नित्य शान्त है। वस्तुतः वही शिवभाव या आत्मा का परमस्वरूप है। इसी निरंश सत्ता में शिव-शक्ति दोनों है, किन्तु दोनों में कोई विलक्षणता नहीं है। कारण, वहाँ एक ही सत्ता है। शैव उसे शिव कह सकते हैं, शाक्त उसे शक्ति कह सकते हैं। यह निरंश का क्षेत्र सर्वदा निरंश ही रहता है। यह मन, बुद्धि के निकट अगम्य है, फिर

भी मन-बुद्धि की सभी क्रियाएँ इसके अधीन हैं। सांश भाग शिव-भावप्रधान या शक्ति-भावप्रधान है—यही दो भाव हैं! वास्तव में सत्य यह है कि दोनों शक्तिस्वरूप हैं, कारण, दोनों ही सांश हैं। सांश सत्ता के शिवरूप को अम्बिका कहा जाता है एवं शक्तिरूप को शान्ता। दोनों ओर से धारा प्रवाहित होती है— अम्बिका की ओर से जिस प्रकार की धारा निकलती है उसी प्रकार शान्ता की ओर से भी प्रवाहित होती है। त्रिकोण अथवा योनि की रचना में यही धारागत वैशिष्ट्य विशेष कार्य करता है। स्मरण रखना होगा कि विश्व-रचना के मूल में त्रिकोण का निर्माण होता है, त्रिकोण का निर्माण अत्यन्त रहस्यमय है। प्रत्येक धाराप्रवाह में जिस स्थिति का आविर्भाव होता है, उसका स्वरूपगत वैशिष्ट्य भी इन दोनों धाराओं का सम्मिलित वैशिष्ट्यमूलक है। उदाहरणस्वरूप कहा जा सकता है कि धाराओं का मूलस्थान अम्बिका और शान्ता हैं, इनका मिलन दोनों ही सत्ता का समांश भी हो सकता है और विषमांश भी। तदनुसार सृष्टि में पार्थक्य होता रहता है। यहीं पीठ के निर्माण का गुप्त रहस्य निहित है। चार प्रकार के वाक्तत्त्व भी इस रहस्य के साथ संश्लिष्ट हैं। त्रिकोण का जो मध्य बिन्दु है, वही चरम पीठ है जिसका परावाक् के नाम से वर्णन किया जाता है। इसके साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क है।

(१)

श्रीमाता का मन्दिरात्मक यह श्रीचक्र एक ओर समष्टि अथवा महासमष्टिरूप विश्व है एवं दूसरी ओर व्यष्टिरूप मानव देह है, यह दोनों के साथ अभिन्न है इसे स्मरण रखना होगा। पराशक्ति विश्वरूपिणी यही उनकी इच्छात्मक अवस्था है। इसके ऊपर पृष्ठ पर उनका विश्वात्मक स्वरूप है। पराशक्ति विश्वरूप होने पर भी चक्ररूप में प्रकाशमान नहीं है, इसीलिए यह अस्फुरित विश्व है। स्फुरण होने पर यही इच्छा चक्ररूप धारण कर लेती है। पराशक्ति विमर्शरूपा है। जगत् का उद्गीरण और निगीरण उनकी स्वेच्छा का स्फुरणमात्र है। यह जो विश्वचक्र की बातें बतायी गयीं, वह बिन्दु से विस्तृत हैं। सृष्टि का क्रम क्या है, अब उसे बताया जा रहा है।

सृष्टि से पूर्व कोई प्रपंच न रहने के कारण उसे शून्य कहा गया है, यह प्रकाशात्मक परमविश्व की स्थिति है। तान्त्रिकों की सांकेतिक भाषा में इसका नाम है—बिन्दु, जिसका पहले अग्नि और सोम के सामरस्य के नाम से वर्णन किया गया है। इसकी अन्तिम अवस्था विसर्ग नाम से आख्यात होती है। सामरस्यरूप यह बिन्दु ही काम अथवा सूर्य है। यही शिव शक्ति का सम्मिलित रूप चिद्गगन है, चन्द्रिका और 'भानुजृम्भण' नाम से इसका निर्देश है। इसी सामरस्यात्मक कामबिन्दु के दो रूप हैं। एक अग्निस्वरूप और दूसरा सोमस्वरूप। आगमों की सांकेतिक भाषा में एक का नाम 'अ' एवं दूसरे का 'हं'। अग्निबिन्दु रक्तस्वरूप एवं सोमबिन्दु शुक्लस्वरूप है। दोनों बिन्दुओं के संयोग से चित्कला या संवित् का आविर्भाव हुआ। यह संवित्

और कुछ नही, प्रकाशरूपी अग्नि सम्बन्धवशत: विमर्शरूपी चन्द्रबिन्दु का स्राव है। अग्नि के स्पर्श से जिस प्रकार घृत गल जाता है यह भी उसी प्रकार का है। इन दोनों बिन्दुओं के अंतराल या मध्यावस्था से जो धारा नि:सृत होती है वही विमर्श-शक्ति की लहरी है। सांकेतिक भाषा में इसे हार्द्धकला कहा गया है। जब कामकला रूप अक्षर इस हार्द्धकला के साथ युक्त होता है तब उस अक्षर से बैन्दव चक्र का आविर्भाव होता है।

बैन्दव चक्र तीन हैं—मातृका में समष्टिरूप अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की समष्टि। इसी चक्र से ३६ तत्त्वरूप विश्व उत्पन्न होता है। श्रीचक्र के अंकित स्वरूप में यह मध्य त्रिकोण के नाम से जाना जाता है। यह मातृकात्रय की समष्टि या सदाशिव या परमात्मा या तुरीया बिन्दु से उद्भूत है।

पराशक्ति परिस्फुट शिवशक्ति समापन्न बीज का अंकुरस्वरूप है। जब परमशिवरूपी सूर्य की किरणें विमर्शरूपी स्वच्छ दर्पण में प्रतिफलित होती हैं तब चित्तरूपी प्राचीर में महाबिन्दु का आविर्भाव होता है। यह जो चित्त है, वह अहंकारात्मक एवं परिस्फुट अकार और हकार का सामरस्य स्वरूप है। रक्तवर्ण और श्वेतवर्ण दोनों बिन्दु वाक् और अर्थ के आभास को प्रकट करते हैं। अहंकारात्मक सूर्य या रवि दोनों के सामरस्य रूप हैं, इसीलिए कमनीय और कामपदवाच्य है। रवि की ये कलाएँ अग्नि और सोम के नाम से दो बिन्दुओं के रूप में परिचित हैं। यही कामकला विद्यादेवी का स्वरूप है। यदि चक्रक्रम को जान लिया जाय तो जगन्माता महात्रिपुरसुन्दरी की प्राप्ति होती है

कालचक्रादि तन्त्रों में कामकला लिखने की विधि प्रदत्त हुई है। तदनुसार पहले एक बिन्दु का सन्निवेश आवश्यक है। उसके नीचे तिर्यक् भाव में अगल-बगल दो बिन्दुओं को बैठाना होगा। इन तीनों बिन्दुओं के नीचे हंसपद अंकित करना चाहिए। आचार्यों का कहना है—यहाँ तक सम्भव है। इसके आगे जो कुछ है वह लिपि के द्वारा लिखना असम्भव है। बाकी आनन्दस्वरूप है। कामकला की अभिव्यक्ति कामालय में होती है अर्थात् योनि-स्थान में। यह आनन्द का द्योतक है। जब लिपिबद्ध किया जाता है तब उसे हंसपद के नाम से लिखा जाता है। भगवान् शंकराचार्य कामकला के जिस ध्यान को बता चुके हैं उससे ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम चिन्तनीय देवी का आनन, उसके नीचे दो कुच या स्तन, उसके नीचे कामकला-तत्त्व ध्यान का विषय है। मुखबिन्दु ही कामबिन्दु है। कुचबिन्दु दो विमर्शबिन्दु हैं। उसके नीचे जो कुछ है, वह हकारार्द्ध या अर्द्ध-नारीश्वर शिव का योनिस्थान है।

(२)

यह जो त्रिकोणात्मक बैन्दव चक्र है वह तीन प्रकार का है। सृष्टिरूप में इसका

स्वरूप शक्ति, किन्तु संहाररूप में इसका स्वरूप अग्नि है। यह चक्र ही क्रमशः नवयोनिचक्ररूप में परिणति प्राप्त करता है। नौ योनियों में चार अात्मस्वरूप (आत्मा. अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा) एक प्रमाता या जीव, एक प्रमेय या ग्राह्य वर्ग, एक ज्ञान एवं बाकी दोनों धर्म अधर्मरूप कर्मसंस्कार हैं। इसी मूल सत्ता का अवलम्बन करते हुए महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि की अवतारणा होती है। नवयोनिचक्र का यही स्वरूप है। यही चिदानन्दघन के नाम से सर्व शास्त्रों में वर्णित है। इसमें एक ओर जहाँ चित् या चैतन्य कला है और दूसरी ओर उसी प्रकार विश्वहन्ता का परिणाम आनन्द भी है। यह देश, काल और आकार के द्वारा अपरिच्छिन्न है, क्योंकि यही सब स्वरूपतः चिन्मय है। यह नवयोनिचक्र नौ प्रकार से विभक्त है। प्रत्येक चक्र में पृथक्-पृथक् मन्त्रों का सम्बन्ध है। ये सब मन्त्र चक्रेश्वरी करशुद्धि के नाम से प्रसिद्ध हैं।

प्रथम चक्र अम्बिका के नाम से वर्णित होता है। यहाँ महाबिन्दुरूप सदाशिव आसनरूप में हैं। इस आसन पर अधिष्ठातारूप में उपविष्ट है—शिवशक्ति का युगल स्वरूप। शिव का प्रलयाग्नि के नाम से वर्णन किया गया है। इस अग्नि में आदितत्त्व शिव से अन्तिम तत्त्व पृथ्वी तक छत्तीसों तत्त्व अन्तर्लीन भाव में विद्यमान हैं। यह हुआ—अर्थ का स्वरूप। इस अग्नि को सभी वर्गों का आदिभूत, अनाश्रित प्रकाशरूप समझना चाहिए। अर्थात् यह अंकार है। जिसका चित्कला के नाम से वर्णन किया जाता है, वह विमर्शरूपा और सर्ववर्णों के अन्तर्भुक्त हार्द्धकला है। तन्त्र की सांकेतिक भाषा में कहा जाता है—'अहं' का 'अ' कार आदिवर्ण प्रकाशरूप एवं हंकार अन्त्यवर्ण विमर्शरूप है।

यह त्रिकोण महाबिन्दुरूप मध्यचक्र से उद्भूत है, जिसका शिवशक्ति के सामरस्य के नाम से वर्णन किया जाता है। यह त्रिकोण ही अम्बिका है। इस त्रिकोण के तीनों कोणों से तीन स्पन्दों का आविर्भाव होता है, जिसके प्रभाव से अष्टकोणात्मक अष्टारचक्र आविर्भूत होता है। यह त्रिकोण अष्टार के केन्द्रस्थल में अवस्थित है एवं यह स्वरवर्णों द्वारा आच्छन्न है। त्रिकोण की तीनों रेखाएँ परस्पर समान एवं प्रत्येक रेखा पाँच स्वरवर्णों द्वारा आवृत हैं। आकार से पाँच स्वरवर्ण लेकर एक रेखा रचित होती है। इस प्रकार तीन रेखाएँ पन्द्रह स्वरवर्णों द्वारा रचित होती हैं, जिसका स्वर बिन्दु नाम से परिचित है । त्रिकोण के केन्द्रस्थल में है—विसर्ग। यही त्रिकोण शास्त्रों में महात्रिकोण के नाम से प्रसिद्ध है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि यही त्रिकोण नौ चक्रों में परिणत होता है। त्रिपुरादि नव चक्रेश्वरी और करशुद्धि आदि मन्त्रों के बारे में भी बताया जा चुका है। अम्बिका और शान्ता का सामरस्य रूप, सदाशिवरूप आसन यही है। कामेश्वर और कामेश्वरी द्वारा यह आसन अधिष्ठित है।

श्रीचक्र की अनेक प्रकार की वासनाएँ हैं, जिनमें एक के बारे में यहाँ समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। इस दृष्टि के अनुसार कल्पनाओं के स्तरों को इस रूप में ग्रहण करना पड़ेगा कि एक अधः-ऊर्ध्व सरल रेखामय विशाल नाड़ी फैली है। इसे सुषुम्ना नाड़ी कहा जाता है। इसका अन्तर शून्यात्मक है। इस नाड़ी के दोनों किनारों पर दो सहस्र दल शोभायमान हैं। जो ऊर्ध्वप्रान्त में है, वह श्वेतवर्ण है, जो सुषुम्ना के नीचे है, वह रक्तवर्ण है। नीचेवाला सहस्रार तन्त्रशास्त्रों में अकुल शब्द के नाम से प्रसिद्ध है। ऊर्ध्व का सहस्र दल, जो सुषुम्ना के ऊर्ध्वभाग में है वह अधोमुख है एवं नीचे सहस्र दल, जो सुषुम्ना के मूलभाग में है वह ऊर्ध्वमुखी है। अधः सहस्रार के ऊपर है—अष्टदल कमल । उसके ऊपर है—षड्दल कुलपद्म। इसका विशेष विवरण स्वच्छन्द तन्त्र में प्राप्य है। प्रत्येक सहस्र दल में सभी शक्तियों का योग है। प्रत्येक कमल में कर्णिका या केशरादि विद्यमान है। ये दोनों सहस्र दल शाश्वत या नित्य सिद्ध हैं। दोनों सहस्र दलों के बीच स्थित सुषुम्ना को आश्रय करते हुए तीस आधार पद्म हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी शक्तिस्वरूप हैं । नीचे से ऊर्ध्व संचार के मार्ग में प्रथम स्थान का नाम है कन्द। यह गुदा और लिंग भेद के अन्तराल में स्थित है। कन्द स्थान पाँच अंगुल उच्च, दो अंगुल विस्तार और एक अंगुल परिमाण का है। इसी कन्द में त्रिकोणाकार महायोनि है। इस योनि के मध्य में जो नाड़ी स्थित है उसका नाम है—सुषुम्ना। जिसके निम्न प्रदेश में अधः सहस्रार की बातें बतायी जा चुकी हैं, उसके कर्णिका प्रदेश में कुलदेवी स्थापित है। चारों ओर शक्ति का आवरण है। इसी पद्म के एक अंगुल ऊर्ध्व सुषुम्ना में एक अष्टदल कमल है। इसमें आठ ग्रन्थियाँ हैं। इस कमल की कर्णिकादि सब कुछ रक्तवर्ण की हैं। इसके तीन श्रृंग हैं, जो ग्रन्थि के आगे स्थित हैं। उसमें बहुशक्ति स्थित है। अष्ट भैरव और वामादि शक्ति यहाँ विद्यमान हैं। इसमें षट्दल कुलपद्म विद्यमान है। यह कुलपद्म कौलशक्ति द्वारा निरन्तर समाश्रित रहता है। यह कुलपद्म पूर्वपद्म के एक अंगुल ऊर्ध्व में अवस्थित है।

किसी-किसी के मन में प्रश्न उठता है कि अकुल पद्म कौन है ? कुछ लोग अष्टदल को ही पद्म समझते हुए ग्रहण करते हैं, किन्तु आचार्यगण इसे स्वीकार नहीं करते। उनका मत यह है कि सुषुम्ना स्थित तीस पद्म फूलों में जो व्यापक है वही सहस्र दल वास्तव में अकुल है। इसी का नामान्तर विपुव है । वही सभी का आधार है। अकुल के बाद सर्वप्रधान स्थान वह्नि का है। यह वह्निबिम्ब मूलाधार का सूचक है। वह्नि के पश्चात् हृल्लेखा या शक्ति का स्थान निर्दिष्ट किया गया है। शक्ति ऊर्ध्व में स्वाधिष्ठान या षट्दल कमल की अवस्थिति है। इसके ऊर्ध्व नाभि-देश में मणिपुर नामक दस दल कमल है। नाभि के ऊर्ध्व हृदयदेश में द्वादश दल अनाहत चक्र है। यह मणिपुर के ऊर्ध्व में स्थित है। इस चक्र में कालरात्रि आदि शक्ति की क्रियाओं का स्थान है। इसके बाद और भी ऊर्ध्व कण्ठदेश में षोडशदल विशुद्ध चक्र स्थित

है। विशुद्ध के ऊर्ध्व लम्बिकाग्र में एक अष्टदल कमल है। इसका आयत चार अंगुल है। इसके बाद भ्रूमध्य में द्विदल आज्ञाचक्र स्थित है। आज्ञाचक्र के किंचिदूर्ध्व में बिन्दु का स्थान है। बिन्दु के किंचिदूर्ध्व में अर्द्ध-बिन्दु या अर्द्ध-चन्द्र प्रकाशमान है। इसके बाद क्रमशः बोधिनी, नादनादान्त, शक्तिव्यापिका, समान और उन्मना के बाद महा-बिन्दु है। यही है परमस्थान एवं यही निष्कलरूप में गण्य होता है।

इन सभी चक्रों में अकुल से आज्ञाचक्र तक चक्रों का विवरण विभिन्न योगशास्त्रों के ग्रन्थों में प्राप्य है, किन्तु आज्ञाचक्र के बाद से अर्थात् बिन्दु से महाबिन्दु तक सूक्ष्म और सूक्ष्मतर केन्द्रों का रहस्य साधारणतः सभी लोग नहीं जानते। यह जो सूक्ष्मता है इसकी सूचना बिन्दु से प्राप्त होती है। अर्द्धमात्रा का क्रमिक संकोचरूप तन्त्रशास्त्रों में प्रसिद्ध है। उन्मनी तक यह क्रमिक सूक्ष्मता की प्रगति है, ऐसा मानना चाहिए। वास्तव में उन्मनी में ही सूक्ष्मता का अवसान होता है। महाबिन्दु सकल, सकल-निष्कल दोनों भावों के अतीत है। यह महाबिन्दु ही विशुद्ध शून्य संविदा की प्रतिष्ठा का स्थान है।

इस सूक्ष्म मार्ग का जो प्रथम स्थान है उसका नाम है बिन्दु; यह पहले ही बताया जा चुका है। यह ललाट पर दीप के आकार में प्रतिभासित होता है। इसे अर्द्धमात्रा इसलिए कहा जाता है कि यहाँ उच्चारण के ह्रस्व स्वर के उच्चारण काल का अर्द्ध है। यह जो बिन्दु का प्रकाश है, दीपवत् होने पर भी वृत्ताकार है। वास्तव में इसका प्रकाश कोटि सूर्यों के प्रकाश के अनुरूप है, इसमें संदेह नहीं। इस बिन्दु के केन्द्र या कर्णिका में शान्त्यतीत ईश्वर अधिष्ठित हैं, उनका चारों ओर वेष्टन करती हुई निवृत्ति आदि चार कलाएँ विराजमान हैं। इसके बायीं ओर है—-शान्त्यतीत की निज शक्ति। बिन्दु के बाद अर्द्धचन्द्र का स्थान है। इसका उच्चारण-काल १।४ मात्रा है। अर्द्धचन्द्र के ऊपर ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती आदिशक्तिसमन्वित रोधिनी का स्थान है। रोधिनी, रुन्धिनी आदि नाम से भी इन सभी शक्तियों का परिचय प्राप्य है। ब्रह्मादि ईश्वर या सिद्धवर्ग जिससे परमतत्व प्राप्त न कर सकें, इसीलिए उनके गतिरोध के लिए इन सभी कलाओं की प्रतिष्ठा है। रोधिनी त्रिकोण के आधार की विशिष्टता है।

अर्द्धमात्रा प्रसंग में जिस काल-विभाग का आभास दिया गया, उसका तात्पर्य समझने के लिए काल का परमाणुसम्बन्धी ज्ञान होना आवश्यक है। तान्त्रिकों और दार्शनिकों का कहना है कि काल का परमाणु है। ह्रस्व स्वर के उच्चारण का काल १ मात्रा है। इसे २५६ भाग में विभक्त करने पर जो कालांश प्राप्त होता है उसे काल का परमाणु कहा जाता है। उसका पारिभाषिक नाम है—लव।

रोधिनी के बारे में पहले बताया जा चुका है। इसके बाद नाद का उल्लेख आवश्यक है। इसका आकार बिन्दुद्वय के मध्यगत सरल रेखारूप है। नाद के बाद नादान्त का स्थान है एवं इसके बाद शक्ति। यह शक्ति ही सभी भुवनों का आधार है। यह चारों ओर स्थित सुसूक्ष्मा, सूक्ष्मता, अमृता और मृता इन चारों धाराओं का

मध्यस्थ है। यही व्यापिनी या व्यापिका है। व्यापिका बिन्दुयुक्त त्रिकोण के आकार में प्रकाशमान होती है। दो बिन्दुओं की अन्तरालस्थ सरल रेखा उन्मना है। शक्ति आदि का स्वरूप द्वादश सूर्यों की तरह उज्ज्वल है। इसके बाद मनोन्मनी। मनोन्मनी के पश्चात् है उन्मनी।

उन्मनी के ऊर्ध्व में अर्थात् हकार से आरंभ कर सकल, निष्कल और केवल निष्कल इन तीनों अवस्थाओं के ऊर्ध्व में देश और काल द्वारा अनवच्छिन्न परम रमणीय जो स्थिति है वह स्वभावतः सुंदर एवं परमानन्दस्वरूप के आविर्भाव का स्थान है।

यह परमानन्द परप्रकाशात्मक परा और शिव का सामरस्यमय रूप है। यह विमर्श शक्ति की स्वरूपभूता महात्रिपुर की सुन्दरी है।

इस स्थान पर उपनीत होने के लिए क्रमशः ऊर्ध्व में उत्थान करना पड़ता है एवं उत्थान के साथ-साथ कालभेद हो जाता है। जो सब वर्ण मन्त्रों में अन्तर्भुक्त है, उनकी मात्राएँ क्रमशः क्षीण होते-होते यहीं से ऊर्ध्व गति आरम्भ होती है। हकार से बिन्दु तक जितने वर्ण हैं वे सब स्थूल हैं। उनके उच्चारण के बारे में मात्राशब्द व्यवहृत होता है। बिन्दु से समना तक वर्णों की मात्रा अर्द्धमात्रा अर्थात् उसकी अर्द्धमात्रा आदि। समना के ऊर्ध्व में अर्द्धादि क्रम का अवलम्बन करते हुए लव तक उच्चारण काल है। यही सूक्ष्मतत्त्वकाल है। इसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर कालांश कल्पनीय नहीं है। इसके ऊर्ध्व में अर्थात् लव के ऊर्ध्वभाग में शून्य ही शून्य है—यह कालातीत है। इस शून्य को भेद कर लेने पर आत्मा का विश्वभाव व्यक्त होता है। स्मरण रखना होगा कि अर्द्धचन्द्र के ऊपर रोधिनी और नाद हैं। नादान्त के ऊपर चित्शक्ति व्यापिका और समना विद्यमान हैं। पहले कहा जा चुका है कि महात्रिपुरसुन्दरीरूपा विमर्श शक्ति जगदम्बा हकार से प्रारम्भ कर महाबिन्दु तक विभक्त तीन भागों के ऊर्ध्व में स्थित है। यही जगन्माता महाशक्ति प्रत्येक जीव की निज-निज आत्मस्वरूप हैं।

स्मरण रखना होगा कि विमर्श शक्ति जब आत्मा या परमशिव का स्फुरण अर्थात् पश्यन्त्यादि क्रम से वैखरी तक देखने की इच्छा करती है तब वह शान्तारूप में स्थित होकर अम्बिकारूप धारण करती है अर्थात् प्रकाशांकरूप अम्बिका के साथ सामरस्य प्राप्त करता है। इस अवस्था में उनका नाम परावाक् होता है। इस समय विश्व बीजरूप में अवस्थित रहता है। इसी परावाक् के भीतर ३६ तत्त्वरूपी विश्व अव्यक्तभाव में अवस्थित रहता है। जब इस बीजरूप विश्व को अभिव्यक्त अथवा प्रस्फुटित करने के लिए वह उन्मुख अथवा उत्सुक होती है तब वह वामा नाम धारण करते हुए अन्तर्निहित विश्व को बाहर प्रकाशित करती है अर्थात् उसका उत्पादन करती है। आत्मा की ओर से बाहर प्रकाश होने के कारण इसका नाम है वमन। तब इस वामा त्रिकोण को वामरेखा अभिव्यंजन करती है। यही रेखा है। वामाशक्ति के

साथ इच्छाशक्ति सामरस्य प्राप्त करते हुए पश्यन्तीरूप में अवस्थान करती है। इधर ज्ञानशक्ति ज्येष्ठारूप में प्रकट होती है। वामा विश्वसृष्टि की सूचना देती है, किन्तु ज्येष्ठा विश्वस्थिति की सूचना देती है। यह सरल रेखारूप में है। ज्येष्ठाशक्ति ज्ञानशक्ति के साथ सामरस्य प्राप्त करती है। यही विश्व की स्थिति का प्रतीक है। यही त्रिकोण की अभ्र रेखा है। इसके बाद क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति होती है। ऋजु रेखामयी मध्यमावाक् मध्यमामातृका के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद अर्थात् विश्व की सृष्टि और स्थिति के पश्चात् विश्व का संहार प्रदर्शित होता है। संहारकाल में बैन्दवरूप धारण करते हुए अम्बिका और शान्ता सामरस्यरूप में स्थिर होते हुए मध्यबिन्दु से आविर्भूत होने के बाद संहारोन्मुख होकर पुनः बिन्दु में प्रवेश करती हैं। प्रत्यावर्तन क्रम में इसे रौद्री और क्रियाशक्ति का सामरस्य समझना चाहिए। यह त्रिकोण की दक्षिण रेखा है। वैखरीवाक् विश्वविग्रह यह शास्त्रों में उक्त हुआ है।

अब तक जो कुछ बताया गया वह सब अम्बिका आदि की चार शक्तियों एवं शान्ता आदि चार शक्तियों के त्रिकोणरूप-धारण का रहस्य है। ये सब शक्तियाँ प्रकाश और विमर्श की अंशरूप हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है।

त्रिकोण के अन्तर्गत योगी के लिए विशेष रूप से अनुसन्धान के चार विषय हैं—प्रथम पीठ, द्वितीय लिंग, तृतीय वर्ण और चतुर्थ अवस्था। ये जो चार शक्तियाँ प्रकाश और विमर्श के अंशरूप अम्बिकादि और शान्तादि नाम से ज्ञात हैं ये ही पहले त्रिकोणरूप धारण करती हैं। इसके बाद उस त्रिकोण में पीठादि का उदय होता है। स्मरण रखना होगा कि शिव से पृथ्वी तक ३६ तत्त्व ही नामरूपात्मक हैं। यह सब स्वरूप में बीजरूप में और बाहर सृष्टिरूप में भासमान होता है। ये चारों शक्तियाँ क्रमशः सामरस्य प्राप्त करते हुए चार पीठों में प्रकट होती हैं। प्रथम पीठ कामरूप, द्वितीय पूर्णगिरि, तृतीय जालन्धर और चतुर्थ औडयान पीठ। इन चारों शक्तियों का सामरस्य अवस्थापीठ के नाम से प्रसिद्ध है । इन सभी पीठों के स्थान मानवदेह के भिन्न-भिन्न प्रदेश में हैं, इसे जानना पड़ेगा। कामरूप पीठ का स्थान सुषुम्ना के मूल में स्थित कन्द-भूमि में है। कन्दस्थित पिंड कुण्डलिनी नाम्नी शक्ति में लक्षित होता है। यही कुण्डलिनी-शक्ति ज्ञान और क्रिया दोनों रूपों में है। इसे साक्षात् परमेश्वरी कहा जाता है। यह प्रसुप्त भुजंगम की तरह रूपविशिष्ट है। यह मातृकारूपिणी है। साधक वायु का कन्दमूल में संचालन करते हैं । कन्द के पश्चात् द्वितीय स्थान का नाम है—पद। इसका नामान्तर हंस है यह द्वितीय पीठ है। तृतीय पीठ का नाम रूप अथवा बिन्दु है। चतुर्थ पीठ का नाम रूपातीत है। यही निरंजन तत्त्व का वाचक है। रूपातीत वास्तव में चिन्मय सत्ता का ही स्वरूप है। इन चारों पीठों के स्थान भी चार हैं। पिण्ड का स्थान मूलाधार, पद का स्थान हृदय, रूप का स्थान मध्य और रूपातीत का स्थान ब्रह्मरन्ध्र है। पीठों के आकार भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम पृथ्वीरूप में, द्वितीय जलरूप में, तृतीय वायुरूप में एवं चतुर्थ तेजोरूप में है। प्रथम पीठ भूतत्त्व

है। आगममत से भूतत्त्व चतुरस्र है इसे स्मरण रखना होगा। द्वितीय पीठ छः बिन्दुओं से युक्त वायुमण्डल है। यही पूर्णगिरि है। वायुमण्डल में छः आवर्त्त हैं। तृतीय पीठ अर्द्धचन्द्राकार है। जालन्धर इस पीठ का नाम है। यह जलतत्त्व का मंडल है। जलतत्त्व अर्द्धचन्द्राकार है यह बात प्रसिद्ध है। चतुर्थ पीठ औडयान है। इसका आकार त्रिकोण है। यह अग्निमण्डल का स्वरूप है। ये चारों पीठ प्रकारान्तर से चार भूतों के वाचक हैं। आकाशतत्त्व का रूप नहीं है इसलिए उसका उल्लेख नहीं किया गया। पीठों का वर्ण क्रमशः पीत, धूम्र, श्वेत और रक्त है। पीठों का यह क्रम आम्नायसम्मत है। प्रत्येक पीठ में एक-एक लिंग है। पीठभेदानुसार लिंगों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। कामरूप के लिंग का नाम स्वयंभू, पूर्णगिरि के लिंग का बाण है, जालंधर के लिंग का इतर और औडयान पीठ के लिग का नाम परलिंग है। स्वयंभू लिंग का वर्ण सुवर्ण की भाँति है। बाण लिंग का वर्ण रक्त की भाँति है। इतर लिंग का वर्ण पुष्प की तरह और परलिंग का वर्ण शुभ्र है।

लिंग शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न के उत्तर में आगम का कहना है कि जो लीन सत्ता को प्रकट करते हैं (लीनं गमयति) वही लिंग है। अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के लिए अगोचर पदार्थों को अभिव्यक्त करने वाले को लिंग कहा जाता है। कामरूपादि पीठ चित् की स्फुरता का आधार है, इसलिए उपासना प्रकृष्ट स्थान है। ये पीठ देहदृष्टि से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों अन्तःकरण के चार रूप हैं। इनमें लिंगरूप में चित्त सत्ता की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति होती है और यह स्वयंभू इत्यादि के नाम से वर्णित होते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक चर्चा करना अनावश्यक है।

अब हम स्थूल दृष्टि से श्रीचक्र के स्तरों का वर्णन करेंगे। पहली बात तो यह है कि यह चक्र बिन्दुचक्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह शिवभाव का द्योतक है। भैरवयामल में लिखा है कि यही परमेश्वरी सर्वातीता होने पर भी शिवसंयुक्त होकर बैन्दव अवस्था में विराजमान है। बिन्दु को शिवशक्ति की घनीभूत अवस्था मान लेना पड़ेगा। इसके बाद त्रिकोण चक्र का स्थान है। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना होगा कि अर्थरूपा जागतिक सृष्टि शब्दमूलक है। प्रलयकाल में समग्र सृष्टि शब्दब्रह्मरूप परावाक् में आकार विलीन हो जाती है। इसी परावाक् या मूलबिन्दु से पश्यन्त्यादि तीन वाकों का उद्‌भव होता है। तृतीय चक्र अष्टार के नाम से प्रसिद्ध है। किसी-किसी का ख्याल है कि शिव चतुरस्र और जीव चतुरस्र के मिलन से अष्टकोण उद्भूत होता है। शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिवत्व ये चारों एक साथ शिवचतुरस्र नाम से प्रसिद्ध है। तद्रूप माया, माया से उद्‌भूत तीन अन्तःकरण एक साथ मिलकर जीव-चतुरस्र नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। इन दोनों के मिलने से अष्टकोण या अष्टार उद्‌भूत होता है। यही शिव जीवभाव के सम्पादक हैं। अर्थ-सृष्टि की ओर से यह कहा गया किन्तु अर्थ का वाचक शब्द सृष्टि का भी तो

है। तदनुसार य-वर्ग अर्थात् य र ल व यह जीवचतुरस्त्र एवं श-वर्ग अर्थात् श ष स ह ये चारों शिवचतुरस्त्र हैं। इस स्थान पर 'आठ योनि' अभिव्यक्त होता है। इनमें चार शिवभाव के और चार जीवभाव के व्यंजक हैं। अष्टार की आठ योनि और मूल त्रिकोण की एक योनि एक साथ नवयोनि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके साथ मध्यबिन्दु का योग होने पर कुल संख्या दस हो जाती है। यह अत्यन्त गुह्य तत्त्व है। कारण, यहाँ शिव और जीव का चतुरस्त्र है। मध्य त्रिकोणरूप एक योनि है। साथ ही वह मध्यबिन्दुयुक्त है। इसीलिए प्रधान देवता की पूजा अष्टार में करने की विधि है। इसकी मुख्य देवता महात्रिपुरसुन्दरी हैं—शिव और जीव दोनों ही उनके अंग हैं।

बिन्दु, त्रिकोण और अष्टार ये तीनों चक्र एक साथ प्रमातृपुर, स्वप्नवासना और अग्नि-खण्ड के नाम से परिचित हैं। किसी-किसी आचार्य के मत से ये तीनों चक्र सृष्टिचक्र हैं। इनमें बिन्दुचक्रसृष्टि—सृष्टि अर्थात् इच्छारूप, त्रिकोण, चक्रसृष्टि—स्थिति या ज्ञानरूप और अष्टारचक्रसृष्टि—संहार अथवा क्रियारूप है। इन तीनों चक्रों के नाम सदानन्दमय, सर्वसिद्धिप्रदायक और सर्वरक्षाकर हैं। यहाँ आश्रय हुए कामेश्वर और आश्रयी हुईं कामेश्वरी। दोनों के मिलने से चार आयुध उत्पन्न होकर अष्टार में अवस्थान करते हैं। चारों आयुध हैं—पाश, अंकुश, धनुष और बाण। वामादित्रय और इच्छादित्रय तीन प्रकारों में विभक्त होकर दो वह्नि और एक शक्ति के संयोग में अष्टारचक्र की रचना करते हैं। इस अष्टारचक्र में वह्नि और शक्तिरूप में नवचक्रात्मक रूप होता है। कामेश्वर और कामेश्वरी के तेज अपने सूक्ष्म पर्यष्टक में विभक्त होते हुए वशिनी प्रभृति अष्टार के देवता रूप धारण करते हैं।

अब तक की गयी चर्चा से क्या समझा गया ? यह समझा गया कि शिव शिवतत्त्वादि एक शुद्ध विद्यादि चारों तत्त्वों एवं जीवभाव का सम्पादक मायादि कंचुकमूल दस तत्त्व और मूल अक्षर दस य र ल व श ष स ह क्ष और त्र का प्रादुर्भाव होता है। इन सभी चर्चाओं का सारांश यह है कि श्रीचक्र के इसी अंश के कारण शरीर की सृष्टि रहस्य है। अब लिंग-शरीर की सृष्टि को समझना चाहिए।

अब अन्तर्दशार और बहिर्दशार इन दोनों चक्रों की चर्चा की जा रही है। ऊपर शिव और शक्तिरूप जो दोनों तेज वशिनी प्रभृतिरूप में या पर्यष्टकरूप में स्थित रहे वही तेज इस समय अन्तर्दशार के इन्द्रियरूप में विभक्त हुए। इनकी पूजा होती है सर्वज्ञादि दस देवताओं के रूप में। यह सर्वरक्षाकर चक्र है, क्योंकि दस इन्द्रियों का रक्षाकारक है।

यह हुआ बहिर्दशार का उक्त दस इन्द्रियों का दस विषय—गन्ध, रसादि और वचन, आदानादि लेकर यह चक्र सर्वार्थसाधक चक्र के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ सर्वसिद्धिप्रद देवता की पूजा होती है। यह पूर्वोक्त दोनों तेजों का नाममात्र है। इस बहिर्दशार के चारों विदिक् कोणों में चार मर्मस्थान हैं। इनमें चार त्रिकोणों के द्वारा

घटित एक चतुरस्र कल्पित होता है, जिसके चारों कोणों में प्रकृति, अहंकार, बुद्धि और मन कल्पित होते हैं। इनकी वाचक चार मातृकाएँ प फ ब भ हैं। मकार जीवरूप त्रिकोण के साथ संश्लिष्ट है। अन्तर्दशार के वाचक वर्णों के नाम टवर्ग और तवर्ग अर्थात् (ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न), बहिर्दशार के वाचक मन्त्र कवर्ग और चवर्ग क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ हैं। यही हैं दो दशारों के बीस कोणों में रहनेवाले। चतुरस्र के चार बीज कुल चौबीस बीज होते हैं। इन चौबीस वर्णों के संयोग से एक ओर होता है ग्राह्य एवं दूसरी ओर ग्राहक।

इस तरह सूर्य की द्वादश कलाएँ व्यक्त होती हैं। प + फ प्रकृति, ब + म मन। ये सब चतुरस्र की प्रधान कलाएँ हैं। यही चतुरस्र है विश्वचक्र, शेष दस कलाएँ हैं—इन्द्रिय। तन्मात्ररूप अवयव कला है। इसलिए दो दशार और चतुरस्र मिलकर सौ खण्ड बने। यह है प्रयागपुर और जारात्मक।

जब अन्तर्दशार के तत्त्व या विषय बहिर्दशार के या इन्द्रिय के तत्त्वों को अपनी व्याप्ति द्वारा आच्छन्न नहीं कर लेते अर्थात् जब विषय अपने-अपने आभ्यन्तर रूप में विलीन रहते हैं तब दसों इन्द्रिय और शब्दस्पर्शादि पाँच और पाँच अदृष्ट इसके बाद मन और पुरुष इन सत्रहों तत्त्वों से लिंगशरीर की रचना होती है।

मूल कारणरूप सूक्ष्म बिन्दु अव्यक्त क्रमशः बाह्यरूप में विकसित होकर इन्द्रियातिभाव ग्रहण करता है और लिंगशरीर की रचना होती है। इसी तरह अन्त्यावयवी तक की रचना होती है एवं बाह्यरूप में परिणत होकर स्थूल शरीर की रचना होती है। इन सभी अवस्थाओं की सूचना चतुरस्रगर्भित दो दशारों में दृष्ट होती है। स्थूल शरीर द्वारा जगत्-व्यवहार के सम्पादक सूर्य हैं, कारण, इसमें जड़ और अजड़ दोनों का समावेश है।

जड़ का मतलब है चन्द्रकला एवं अजड़ का मतलब है वह्निकला। जाग्रत् पुरुष उक्त प्रकार त्रिचक्र इन्द्रिय और विषय (चेतन जड़) दोनों का सम्मिश्रण है। यह हुआ दोनों दशारों का परिवेश।

इसके बाद शिवशक्ति युगल तेज चौदह शक्ति-रथों में परिणत होता है । इसका नाम होता है संक्षोभिनी आदि। ये शक्तिसमूह चतुर्दशार के चतुर्दश कोणों में अवस्थित हैं। उसी स्थान पर इनकी पूजा होती है। ये चौदहों तेज पिण्डाण्ड की दस इन्द्रियाँ हैं एवं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं। इन चतुर्दशार के चान्द्र खण्ड और जड़ हैं। इसका नाम है सुषुप्तिपुर। चन्द्र की सोलह कलाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें अ से औ तक चौदह वर्ण और चौदह कलाएँ हैं। अं एवं अः इन दोनों का संयोग होने से षोडश पूर्ण होता है। इसी को षोडश कलाएँ कहते हैं। बिन्दु से चतुर्दशार तक श्रीचक्र मुख्य है।

अब अष्टदल, षोडशदल और भूपुर की बातें बता रहा हूँ। इस सम्बन्ध में

स्मरण रखना होगा कि समस्त चक्र बिन्दुचक्र में हैं। बिन्दु से ही शक्ति के प्रभाव में चतुर्दशार तक कल्पित होता है। त्रिकोण से चतुर्दशार तक शक्तिचक्र है—इन सभी के गर्भ में शिवचक्र भी है। चतुर्दशार के बाहर है कमल, उसमें आठ देवियों की पूजा होती है। वस्तुत: ये आठ देवियाँ शिव-शक्ति का अष्टधा विभक्तरूप है। यह सब संक्षोभक चक्र है। क्षोभ सृष्टिकारक है यह स्मरण रखना होगा। यह अष्टदल अग्निखण्ड और प्रमातृपुर है। बिन्दुरूप एक ही वह्नि की आठ कलाएँ हैं। विसर्ग या चतुर्दशार के बाहर स्थित बिन्दु अष्टदल के अष्टारचक्र में अन्तर्भुक्त है, इसलिए चतुर्दशार का माध्यस्थ हो जाता है। भैरवयामल में कहा गया है कि चार शिवचक्र और शक्तिचक्र द्वारा श्रीचक्र की रचना होती है। यथार्थ श्रीचक्र शिवशक्ति का सम्पुट है। चतुर्दशार तक नवचक्रों के अन्तर्भाव समझना चाहिए। नवचक्रों में शक्तिचक्र पाँच अर्थात् त्रिकोण अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुरस्र शिवचक्र चार हैं—बिन्दु, अष्टदल, षोडशदल और चतुरस्र। त्रिकोण में बिन्दु अष्टार में अष्टदल दो दशाओं में षोडशार एवं चतुर्दशार में चतुरस्र अन्तर्भुक्त है। सर्वत्र ही शिवशक्ति के अविनाभाव स्पष्ट हैं। जो इसे जानता है वह वास्तव में चक्रज्ञ है। इसीलिए कोई-कोई सोचता है कि शिवचक्र को चतुर्दशार के बाहर लिखना विडम्बनामात्र है।

●

३

अवतार और विश्व-कल्याण

साधारण तौर पर भारत में जिसे अवतारवाद माना जाता है, उसके बीज श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण द्वारा कहे गये उपदेश में है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

विश्व-कल्याण के लिए भगवत्सत्ता के अवतरण के बारे में, विभिन्न समय विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रश्न पैदा हुए हैं। विभिन्न दृष्टिकोणों के सभी विषयों के बारे में विवरण देना सम्भव नहीं है।

गौड़ीय वैष्णवों की दृष्टि के अनुसार (इस दृष्टि में साम्प्रदायिक या असाम्प्रदायिक विषयों पर कोई विरोध नहीं है।) परमात्मा का ही अवतार होता है, जो माया के अधिष्ठाता हैं। परमात्मा के साथ चित्शक्ति तथा मायाशक्ति दोनों का सम्बन्ध होता है, पर चित्शक्ति में ह्लादिनीभाव की प्रधानता नहीं है। चित्शक्ति के तटस्थ होने के कारण निरन्तर जीव का आविर्भाव होता है। इस सम्बन्ध में स्मरण रखना होगा कि मायाशक्ति के अधिष्ठाता भी परमात्मा हैं। उनसे ही निरन्तर प्राकृतिक जगत् के उपादानों की सृष्टि होती है। जीव दोनों क्षेत्रों में परमात्मा का अंशमात्र है। परमात्मा द्वारा अधिष्ठित माया से जीव का आविर्भाव होता है, इसीलिए जीव को भिन्नांश कहा जाता है। पर परमात्मा का स्वांशरूप में अवतरण होना सम्भव है। जब माया का प्रभाव नहीं रहता तब इस स्वांश को अवतार माना जाता है। यह नरदेहरूपी अवतार अंशरूप में अथवा पूर्णरूप में परमात्मा का ही स्वरूप है। साधारण तौर पर पूर्ण रूप में अवतार नहीं होता, पर होना सम्भव है। अवतार विश्व-कल्याण और धर्मसंस्थान के लिए होता है, वह तत्काल के लिए, क्योंकि इससे जीव के स्वरूप का किसी प्रकार से उत्कर्ष नहीं होता। जीव का अन्तःप्रकृति

दण्ड पाने पर भी शुद्ध नहीं होता और यह दण्डप्राप्ति भी सामयिक है। यह कर्मजगत् का विषय है।

जीव भी ब्रह्मज्ञानी होकर जीवन्मुक्त अवस्था में ब्रह्मज्ञान का उपदेश देता है। जीवन्मुक्त पुरुष ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है, बाद में तत्त्व-ज्ञान का उपदेश देता हुआ जगत् का कल्याण करता है। किन्तु जीवन्मुक्त अवस्था में अविद्या का अंश रहता है। जाति, आयु और भोगरूप में प्रारब्ध का कर्मफल जीवन्मुक्त को भी भोगना पड़ता है। जीवन्मुक्तों की शक्ति सीमित होती है। उनका विश्व-कल्याण भी उसी के अनुरूप सीमित है। समग्र विश्व का कल्याण उनके द्वारा संभव नहीं है। इसके अलावा जीवन्मुक्तों का सामर्थ्य भी परिच्छिन्न होता है। नित्य सिद्धमण्डल में विराजमान सिद्ध पुरुष भी विश्व-कल्याण कर सकते हैं, पर आंशिक रूप में। इसीलिए साधारण दृष्टि में ऐश्वरिक शक्ति से भी व्यापक कल्याण नहीं होता। जो कुछ होता है, वह उन-उन कालों और उन-उन देशों के लिए होता है।

भक्तिमार्ग में भाग्यवान् उच्चाधिकारी परमभक्त प्रेम-भक्ति प्राप्त करते हैं और भगवान् के नित्यरास में प्रवेश करते हैं। किन्तु उनके द्वारा भी समग्र विश्व का व्यापक कल्याण नहीं होता। सिद्धमण्डली अपने-अपने अधिकार तथा जगत् की स्थिति के अनुसार यथासम्भव जगत् की सेवा करते हैं। समग्र जगत् का व्यापक कल्याण करना उनके लिए असाध्य है, क्योंकि व्यापक कल्याण काल अथवा विश्वमाया की निवृत्ति न होने तक संभव नहीं होता। बौद्ध धर्म के हीनयानमत में व्यक्तिगत निर्वाण एकमात्र लक्ष्य था—व्यापक विश्व-कल्याण उनकी कल्पना के बाहर की बात थी। श्रावकरूपी साधक पुद्गल नैरात्म्य साधना करने के बाद निर्वाण की ओर बढ़ रहा था। उन लोगों की करुणा एवं सामर्थ्य दोनों ही परिच्छिन्न था। केवल श्रावक ही नहीं, प्रत्येक बुद्ध भी विश्व-कल्याण के योग्य नहीं था। महायान के प्रस्थान पर जीव-सेवा को आदर्श माना गया। ज्ञान का आदर्श ऊपर उठा। श्रुतचिन्ता भावनात्मक-ज्ञान भूमि-प्रविष्ट-ज्ञानरूप में परिणत होता है। श्रावक परार्थ जीवन में उत्सर्गीकृत बोधिसत्त्वरूप में परिणत होता है—जीवन का उद्देश्य ही परार्थ होता है। विश्व-हित का आदर्श काफी ऊपर उठ जाता है। निर्वाण से भी बुद्धत्व का आदर्श अधिकतर श्रद्धा के साथ गृहीत हुआ था। इस प्रकार बोधिसत्त्व का आदर्श बड़ा हुआ, किन्तु पराकाष्ठा तक जाने में असमर्थ रहा। पारमिता-मार्ग में प्रज्ञा प्राप्त करना सम्भव है। यही प्रज्ञा ही भगवत्ता विकास के साथ-साथ महाबोधिरूप में परिणत हो जाती है। अतएव बुद्ध भगवान् का आदर्श है—बोधि और भगवत्ता दोनों का एकत्र समावेश। केवल बोध होने पर भगवत्ता तथा महाशक्ति का सम्बन्ध नहीं रहता और केवल भगवत्ता प्राप्त होने पर बोधि का उदय अनिश्चित रहता है। इसीलिए एक ओर बोधि और भगवत्ता का मिलन, दूसरी

ओर ज्ञान तथा ऐश्वर्य दोनों का सामंजस्य सम्बन्ध आवश्यक है। शैवागम और शाक्तागम में जिस प्रकार पूर्णत्व-प्राप्ति के लिए शिव-शक्ति का सामरस्य माना जाता है, ठीक उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए। बोधिसत्त्व दशम भूमि में बुद्धत्त्व प्राप्त कर जीव-सेवा में प्रवृत्त होते हैं। बोधिसत्त्व असंख्य हैं, बुद्ध भी अनन्त हैं। वे लोग अनादिकाल से प्रयत्नशील हैं, पर विश्व का कल्याण कहाँ हो रहा है ?

वेदान्तों में भी कहीं-कहीं सर्वमुक्ति की कल्पना की गयी है, पर जिसे परामुक्ति कहा जाता है, जहाँ एक साथ एकक मुक्ति और सर्वमुक्ति दोनों ही सम्पन्न होती हैं, उस आदर्श को कार्यरूप में परिणत होने के लक्षण दिखाई नहीं देते अथवा दिशा नहीं मिलती। यही वजह है कि कई आचार्यों की दृष्टि ईश्वरसायुज्य के लक्ष्य की ओर निबद्ध रहती है। यह सभी अधिकारी पुरुषों की जल्पना-कल्पना है। उनमें आपसी मतभेद है और दृष्टि-भेद भी है।

कुछ महात्माओं का कथन है और वे कल्पना करते हैं कि जब तक ठीक-ठीक अवतरण नहीं होता तब तक प्रगति की संभावना नहीं है। यहाँ अवतरण का तात्पर्य है—अनुलोम तथा विलोम गति का पूर्णतापूर्वक समन्वय। केवल अनुलोम-गति से विश्व-कल्याण सम्भव नहीं है। अनुलोम-गति से आत्मा का मायिक आवरण धीरे-धीरे खुल जाता है और अन्त में ब्रह्म के स्वरूप में प्रवेश कर तादात्म्य प्राप्त करती है। परन्तु ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करने के बाद जब तक ब्रह्मभाव लेकर मूल तक अवतरण नहीं होता तब तक निम्नभूमि का हित-साधन कैसे हो सकता है—यह एक प्रश्न है। लक्ष्यस्थल तक पहुँचने के बाद अगर लौटने या बाहर निकलने का मार्ग न रहे तो उस परिस्थिति में जगत् का कल्याण कैसे हो सकता है ? लक्ष्यस्थल में प्रवेश और लौटने का सामर्थ्य दोनों ही रहना चाहिए। इसके लिए लक्ष्यशोधन आवश्यक है अर्थात् लक्ष्य तक पहुँच कर, लक्ष्य से शक्तिसम्पन्न होकर शक्तियुक्तावस्था में क्रमशः अधोभूमि तक अवतरण करना चाहिए।

प्राचीनकाल में इस रहस्य का ज्ञान किन्हीं महानुभावों को था। इसीलिए ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्, एक ही महासत्ता के तीन विभागों की प्राप्ति के लिए ज्ञान, योग तथा भक्ति-मार्ग की ध्येयरूप में कल्पना की गयी थी। उसी के अनुसार वर्तमान युग में भी कुछ महापुरुष ब्रह्मभाव प्राप्त कर योगभाव तथा योगभाव प्राप्त कर भगवद्भाव की साधना में लगे हुए हैं। ब्रह्मभाव से योगभाव में संचरण का तात्पर्य है, ज्ञान के कार्यों को सम्पन्न करना। ज्ञान-दृष्टि से अद्वैत सत्ता में जो सिद्ध होता है, योग-मार्ग में उन्हें ही परमात्मा के रूप में प्राप्त किया जा सकता है। ब्रह्मभावप्राप्त विदेह-स्थिति में आत्मा का बाह्य देह से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अगर कुछ देर के लिए देह-सम्बन्ध मान लिया जाय तो स्वरूप देहमात्र होता है, तांत्रिक लोग जिसे शाक्त देह कहते हैं, पर यह शोधित लक्ष्य के स्थान पर ही है, अन्यत्र नहीं। वहाँ अचित् से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सिर्फ चित् ही चित्। परमात्मा

भाव में, परमात्मा प्रकृति के अधिष्ठाता बनने के कारण उपासक योगी का देह-सम्बन्ध रहता है। इसे एक प्रकार से मनोमय देह कहा जाता है। योगावस्था में आत्मा परमात्मा का स्वांश होता है। योग का उत्कर्ष सम्पन्न होने के साथ आत्मा ही क्रमश: परमात्मा के रूप में आत्मप्रकाश करता है। यह परमात्मभाव अभेद में भेद का स्फुरण है, मनोमय स्तर में। आत्मा भले ही परमात्मा का अंश हो, पर उसे भिन्नांश माना जाता है। जब योग का पूर्ण विकास हो जाता है तब आत्मा का योग-मार्ग में पूर्ण विकास होता है और तब आत्मा परमात्मा के रूप में दिखाई देता है। पर यह देहाधिष्ठित अवस्था है, ब्रह्मभाव की तरह विदेह-अवस्था नहीं है। यह मनोमय राज्य है, ब्रह्मभूतात्मा ने स्वकीय चित्शक्ति के द्वारा मनोमय सत्ता को चिन्मयरूप में परिणत किया है। उस समय अपना मन चिन्मय तथा मनोगम्य विषय भी चिन्मय होता है। अचित् होने पर भी वह चित्शक्ति के प्रभाव से चिन्मय हो जाता है। जब मन का पूर्ण विकास हो जाता है तब योगावस्था से निर्गमन होता है और भक्ति-राज्य में प्रवेश मिलता है। मातृगर्भ से जिस प्रकार सन्तान अधोदर से निकलता है, ठीक इसके विपरीत योग यहाँ योग-भूमि में पूर्ण होकर हृदय के ऊर्ध्वद्वार से बाहर निकलते हैं। जिस प्रकार शिशु मातृगर्भ में रहता है, बड़ा होता है और गर्भ से बाहर निकलने योग्य होता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा योगावस्था में परमात्मा गर्भ से विकसित होता है और वहाँ से निकलने की योग्यता प्राप्त करता है। ब्रह्मावस्था में एक ही सत्ता होती है, जो आत्मा है वही ब्रह्म। परमात्मावस्था में सत्ता एक होने पर अंशांशिभाव में रहता है। आत्मा अंश, परमात्मा अंशी होता है। योगावस्था से निकलने के बाद आत्मा ब्रह्मावस्था में आविर्भूत होता है। ब्रह्मावस्था इन्द्रियगोचर दृश्य जगत् की स्थिति है। योगावस्था में आत्मा परमात्मा के साथ जुड़ा रहता है। पर योगावस्था से निकलने के बाद आत्मा भगवद्भूमि में प्रविष्ट होता है। ज्ञानी के निकट जो अपने से अभिन्न ब्रह्म था, योगी के निकट वे ही परमात्मा हैं, जो अभिन्न नहीं, भिन्न भी नहीं, अंशिरूप में हैं। योगभूमि से निकलने के बाद भक्तिराज्य में प्रवेश करने पर भगवद्स्वरूप अपने स्वरूप से भिन्न होता है। आत्मा उस अवस्था में न तो ज्ञानी है और न योगी, पर भक्त है। जो पहले ब्रह्म थे, वे बाद में परमात्मभाव में प्रकाशमान होते हैं; फिर वे ही भगवद्रूप में प्रकट होते हैं। आत्मा भक्त और भगवान् उसका उपास्य। आत्मा भक्ति का आश्रय अवलम्बन है एवं भगवान् उसी भक्ति के विषय का अवलम्बन हैं—दोनों ही नित्य सम्बन्धयुक्त हैं। दोनों अलग-अलग होने पर भी एक-दूसरे को छोड़कर नहीं रह पाते।

इस अवस्था में जगत् का अचित्‌भाव नहीं रहता। मनोमयत्व भी नहीं। चिन्मयत्व रहता है। इसके साथ आनन्दमयत्व भी। उस समय उनके निकट समग्र विश्व ही चिदानन्दमय स्फुरित होता है, अपना शरीर भी जो पाँचभौतिक जड़स्वरूप

था, चिदानन्दमय हो जाता है। उस समय देश-काल का बन्धन नहीं रहता। किसी प्रकार की नियति का शासन भी नहीं रहता। सर्वत्र पूर्ण स्वातंत्र्यमय उल्लास होता है। उनकी दृष्टि में समग्र जगत् प्रेममय हो जाता है। यह अवस्था जिन्हें प्राप्त होती है, वह उनके पास रहती है, जो दिव्यस्थल के रूप में प्रकाशमान होती है। उनका अभिन्न मित्र भी इस दृश्य को नहीं देख पाता। कृपामयी की इच्छा से जब कृपापात्र की दृष्टि खुल जाती है तभी वे उनका स्थूल रूप में दर्शन कर पाते हैं। इसके लिए साधन अनावश्यक है। जब तक भक्ति का उन्मेष होकर स्थिति नहीं होती तब तक दर्शन स्थायी नहीं होता। यह बहुत ऊँची अवस्था है, पर इससे विश्व-कल्याण नहीं होता। क्योंकि जो कुछ प्राप्त हुआ, वह तो स्थूल है, सूक्ष्म कारण तथा उसके अतीत को लेकर एक व्यक्ति का हुआ। जिसका हुआ, उसका हुआ। अन्य की प्राप्ति उसके सदृश्य के लायक नहीं होता। यह ठीक है कि उनकी कृपा से दूसरों को दर्शन मिल सकता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि ब्रह्मभाव से भगवद्भाव तक अवतरण-मार्ग में प्राप्ति का अधिकार एक को है—दूसरों को नहीं। क्योंकि वे लक्ष्यशोधन के बाद ब्रह्मशक्ति के रूप में चित्शक्ति को पाकर क्रमशः परमात्म-भूमि एवं भगवद्-भूमि तक पहुँच सके हैं। परमात्म-भूमि अर्थात् योगभूमि में अन्तर्जगत् तथा मानस-जगत् में अचित्भाव को त्यागकर चित्भाव पाते हैं और तब ज्ञानी आत्मा योगीरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इसके बाद परमात्म-भूमि से भगवद्-भूमि में संचार होने के लिए समस्त इन्द्रियगोचर स्थूल जगत् इन्द्रियरूपी करणवर्ग एवं पाँचभौतिक देह केवल चिन्मयमात्र नहीं है, चिन्दानन्दमयरूप में परिणत होता है। देश-काल का बंधन कट जाता है। नित्यलीला-भूमि में नित्यानन्द लहरें नृत्य करती हैं। सब कुछ हुआ, पर केवल अकेले के लिए। यह सम्पत्ति उनकी निजी सम्पत्ति है। उनकी कृपा से दूसरों को दर्शन मिल सकता है। केवल एक बार नहीं, बार-बार हो सकता है, दर्शन के बाद दिक्काल स्थिति हो सकती है। फिर भी उनके निकट परकीया-शक्ति रह जाती है। स्वकीया नहीं, क्योंकि वह उनकी अपनी वस्तु नहीं है। यद्यपि यह अतुल ऐश्वर्य एवं माधुर्य उनके अनुभव में आते हैं, तथापि उनकी अपनी शक्ति नहीं है। इसीलिए समग्र विश्व का कल्याण इससे पूर्ण नहीं होता, जब तक न्यूनता का परिहार नहीं किया जाता। इस बारे में कतिपय महापुरुषों का यह सिद्धान्त है—आत्मा का आरोहक्रम शोधित लक्ष्य समाप्त होने के बाद अवरोह तथा अवतरण के पहले समष्टिरूपी के साथ समष्टि तथा महासमष्टि के साथ अपना तादात्म्य सम्पन्न करना चाहिए। इसी तादात्म्य-सम्पन्नता के मूल में प्रेमभाव है। इसके बाद आत्मा का अवतरण यथाविधि पूर्ण होना उचित है अर्थात् भूततत्त्व तक होना चाहिए। इस अवतरण का प्रभाव अत्यन्त विशाल है। यह अवतरण पूर्ण होने के बाद जब स्वातंत्र्य-शक्ति के उन्मेष का अवकाश आता है तब विश्व-कल्याण का मार्ग उन्मुक्त हो जाता है। स्वातंत्र्य-शक्ति का उद्बोधनक्रम धीरे होने पर भी

वास्तव में क्षण में होता है। आरोहण के अन्त में, शुद्ध लक्ष्य में स्थिति के समय सत्त्वरूपी स्वरूप में अन्तर्भुक्त चित् एवं आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। इसके बाद इच्छा और ज्ञान का उन्मेष होता है। अन्त में क्रिया का उन्मेष होता है, तब समझ में आता है कि स्वातंत्र्य का उन्मेष पूर्ण हो गया है।

इस अवतरण के मूल में आत्मा की प्राप्ति के साथ विश्व के भिन्न-भिन्न आत्मा की प्राप्ति हो जाती है, कारण, व्यष्टि आत्मा की समष्टि या महासमष्टि आत्मा के साथ तादात्म्य हो रहा है। इससे एक की प्राप्ति के साथ-साथ सभी की प्राप्ति समझना चाहिए। सभी आत्माओं की प्राप्ति होने पर भी प्रथम प्राप्ति का बोध अवतरणकारी मूल आत्मा में ही होता है। अन्य आत्मा में एक ही साथ प्राप्ति होती है, पर बोध क्रमशः होता है। मूल आत्मा के प्रति अभिमुख रहने पर धीरे-धीरे बोध खुल जाता है। जब इस बोध का पूर्ण विकास होता है तब मूल आत्मा से किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती। उस वक्त सर्वत्र एक अखण्ड आत्मा का ही स्फुरण रहता है। असंख्य अनन्त आत्मा एक ही आत्मा के रूप में स्फुरित होता रहता है। देश-काल के सभी प्रकार का आवरण उन्मुक्त हो जाता है। जागतिक पदार्थ-समूह के अनन्त भेद निवृत्त होते हैं। एक अखण्ड अनन्त आत्मस्वरूप में सर्वात्मा का अहंबोध परिसमाप्त होता है तथा जगत् के विचित्र अनन्त रूपों में प्रकाशमान होता है। यह विचित्र एवं तन्मूलक लीला तथा आनन्द-विलास रहने पर भी एक अखण्ड आत्मस्फूर्ति सर्वत्र विद्यमान रहती है। इसी का नाम स्वयंप्रकाश पूर्णब्रह्म नित्यव्यक्त आत्मलीला है।

●

४

काली-रहस्य

काली के गले में मुण्डमाला क्यों है ?

काली-मूर्ति साक्षात् जगदम्बा की मूर्ति है, पराशक्ति का एक रूप। पराशक्ति के अनेक रूप हैं, इनमें काली उनके एक रूप के अन्तर्गत है। काली अनेक प्रकार की हैं—दक्षिणाकाली, वामाकाली, श्मशानकाली, कालकाली, कामकलाकाली आदि। दक्षिणाकाली का प्रचार बंगदेश में सर्वाधिक है। कालीमूर्ति के नीचे शवरूपी शिव रहते हैं। शिव की चैतन्य-शक्ति जब शरीर से उठ जाती है तब शरीर शवाकार में परिणत हो जाता है। उसी शव पर चैतन्य-शक्ति क्रिया करती है। शिव के वक्ष पर काली विराजमान रहती हैं। बिना शिवत्व प्राप्त किये काली को हृदय में धारण नहीं किया जा सकता। शिवत्व प्राप्त कर शवावस्था तक पहुँचा जाता है, तब काली का पता लगता है। शिव ही शव हो सकते हैं, जीव नहीं हो सकता। कालीमूर्ति में चार हाथ होते हैं। इनमें एक में वर-मुद्रा और दूसरे में अभय-मुद्रा है। तीसरे में खड्ग और चौथे में असुर का मुण्ड रहता है। यह जो असुर है, इसका नाम महामोह है। इसे ज्ञान के द्वारा काटना होगा। ज्ञान का प्रतीक असि है। ज्ञान के द्वारा महामोह कट रहा है, ऐसा समझना चाहिए। यह जो महामोह है, यह वास्तव में मनुष्य के विकल्प का जाल है। इस विकल्प का मूल मातृका यानी वर्णमाला है। पचास वर्णमालाएँ हैं। यही मोह के कारण हैं। विकल्प के उद्‌बोध के लिए इन्हें दूर कर शून्यावस्था तक पहुँचना चाहिए। जो मुण्ड हाथ में मौजूद है, वही महामोह है। उन महामोहों के विकल्पहेतुभूत इस मुण्ड को धारण किये रहती हैं—विश्व के सभी विकल्पों की जननी। विकल्पों का नाश वह करती हैं—ज्ञान के द्वारा। ज्ञान का प्रतीक असि है। एक हाथ वर-मुद्रा में है, जो संसार को सुखदान करता है। दूसरा हाथ अभय-मुद्रा में मोक्ष प्रदान करता है। वे दिगम्बरा हैं, क्योंकि वे आकाशस्वरूप हैं, उन्हें आवरण कौन पहनायेगा ? इसी को समझाने के लिए वे दिगम्बरा हैं। इसकी विशिष्ट व्याख्या है। जिह्वा बाहर करने का मतलब है—निर्विकल्प अवस्था में अवस्थान करती हैं। शवरूपी शिव के हृदय पर इसी प्रकार

विचरण करती हैं। वे श्मशानवासिनी हैं। श्मशान शव शयान अर्थात् वहाँ इसी प्रकार शव रहते हैं। जीव के रूप में काली का आविर्भाव नहीं है। जीवभाव में परिणत होने पर शिवभाव आवश्यक हो जाता है। शिवभाव से शिव-शक्ति निर्गत होने पर आद्याशक्ति के रूप में लीला करती हैं। जीव शव नहीं हो सकता, कारण, जीव की मृत्यु होती है। जीव अगर शव हो जाय तो वह शिव होगा, इसके पूर्व नहीं। महाशून्य का भेद होने के पूर्व महाविद्या का प्रादुर्भाव होता है। इसके तीन प्रकार हैं—काली, तारा, षोडशी। जब संसार का समस्त ऐश्वर्य, माधुर्य शोषित हो जाता है तब जो पर-चैतन्य का स्पन्दन जाग उठता है, यही काली है। यही अमावस्या की सूचना है। षोडशी, ललिता काली के विपरीत हैं। काली अमावस्या हैं और ये पूर्णिमा, सौन्दर्य और ऐश्वर्य का प्रतीक। इनका नामान्तर ललिता, त्रिपुरसुन्दरी है। इनके पास अनन्त ऐश्वर्य है, इसीलिए इन्हें राजराजेश्वरी कहा जाता है । काली के यहाँ से षोडशी तक जाने के मार्ग पर तारा आती हैं। तारा माने तारिणी। दशावतार में जो राम हैं, वही तारा हैं। दशावतार में ब्रह्म नाम है, वही तारिणी हैं। दिक्भेदमात्र है। इसमें गम्भीर रहस्य है, जिसे प्रकट नहीं किया जा सकता।

काली के गले में जो मुण्डमाला शोभा पाती है, इनकी संख्या पचास है। इन पचासों विकल्पों के हेतु मनुष्य के शरीर में षट्चक्र के रूप में विद्यमान हैं। मूलाधार में चार वर्ण, स्वाधिष्ठान में छह, मणिपुर में दस, अनाहत में बारह, कण्ठ में विशुद्ध सोलह, भौंहों में, आज्ञाचक्र में दो—यही पचासों वर्ण क्रियाएँ करती हैं और यही विकल्पों के मूल हैं। इससे अज्ञान सागर में डूब जाता है। विकल्प दूर होने पर निर्विकल्प में जाता है। काली के चार हाथों में वरमुद्रा, अभयमुद्रा, खड्ग और असुर-मुण्ड है। विचार करने पर समझ में आता है कि मनुष्य के हृदय में, मूल विकल्प रूप में जो है उसे अज्ञान-राज्य में चक्कर काटना पड़ता है, इन सभी को वे खड्ग द्वारा काट देती हैं। इन विकल्पों के मूल हेतु जो महामोह असुर है, उसे भी खड्ग द्वारा काट देती हैं; पर त्याग नहीं करतीं। आभूषण के रूप में अपनाती हैं, क्योंकि वे मातृशक्ति हैं। विकल्पात्मक संसार से जो लोग ऊर्ध्व हैं, उनके लिए वर, स्वर्गादि के सुख प्राप्य हैं। जो लोग यह सब नहीं चाहते, उन्हें अभय देती हैं, मोक्ष का आश्वासन देती हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि काली चतुर्वर्गफलदायिनी हैं। मनुष्य अगर महाकाली या जगदम्बा को धारण करना चाहता है तो उसे शिवभाव लाना ही पड़ेगा—यही है रहस्य।

वर और अभय दाहिनी ओर तथा खड्ग एवं नरमुण्ड बायीं ओर है। वर माने जागतिक सम्पद्, जिसे धार्मिक चाहते हैं, मुमुक्षु अभय की प्रार्थना करते हैं; यह योग्य व्यक्तियों को वे प्रदान करती हैं। ऊपर वाले हाथ में खड्ग है, जो ज्ञान का प्रतीक है, बायीं ओर नीचे जिस हाथ में नरमुण्ड है, वह असुरमुण्ड है, यह महामोह है। इसका अर्थ यह है कि देहात्मबोध, प्रकृति आदि अनात्म वस्तु में अहंबोध

उत्पन्न करता है। असि ज्ञान है, इसे स्मरण रखना होगा। मुण्डमाला के पचास वर्ण मातृका के प्रतीक हैं अर्थात् अ आ क ख आदि। वर्ण या मातृकावर्ग भाषा के द्वारा मनुष्य के हृदय में विकल्प उदय होता है—वैखरी या 'क' स्थिति में। यह सब विकल्प नष्ट होता है ज्ञान के द्वारा। आत्मज्ञानरूपी असि द्वारा उन पचासों विकल्पों का नाश करने अर्थात् शोधित रूप में माँ अपने गले में पहनती हैं। माँ की कृपा से शरीर का अहंबोध नष्ट होता है ज्ञान के द्वारा। इसका वे दान करती हैं। विकल्पों का शोधन कर शुद्ध विकल्पमय माला के रूप में वे धारण करती हैं। जीव विकल्पशून्य होकर नहीं रह सकता। यही दक्षिणाकाली मूर्ति का तात्पर्य है।

सारांश—माँ दक्षिणाकाली जीवों के प्रति अशेष करुणामयी हैं। वे केवल मुमुक्षुओं को ही अपना सन्तान समझती हैं, ऐसी बात नहीं है। जो लोग मोक्ष न चाहते हुए भी धर्म-पथ पर रहना चाहते हैं, उनके लिए वरमुद्रा में हैं। अभय-मुद्रा मुमुक्षुओं के लिए है। अशुद्ध विकल्पों को छोड़कर जो लोग शुद्ध विकल्प ग्रहण करने के बाद सत्पथ पर चलते हैं, उन्हें वे सन्तान के रूप में ग्रहण करती हैं। उनकी मुण्डमाला, असि, नरमुण्ड समष्टिरूप में यही स्पष्ट करती है। इस संसार में जो लोग मोह में फँसे हुए हैं, वे असुर के अधीन हैं। यह असुर अहंकाररूपी महामोह है। इस असुर का माँ ज्ञानरूपी असि द्वारा नाश करती हैं। नाश-क्रिया अपने बायें हाथ में स्थित मुण्ड और खड्ग द्वारा करती हैं। उनके गले में जो मुण्डमाला है, वह शास्त्रों के अनुसार वर्णमाला का द्योतक है। यह वर्णमाला वैखरी वाक्स्वरूप एवं अशुद्ध विकल्पों का उत्पादक है।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।

वैखरी शब्द से अशुद्ध विकल्पों का जन्म होता है। उनके उत्पादकरूपी ये पचासों वर्ण माँ के हस्तस्थित ज्ञान के द्वारा कटे हुए असुरमुण्ड हैं। इन सबका त्याग उन्होंने नहीं किया है। महामोहरूपी जो मूल असुर है और इसके अनुचर के रूप में जितने व्यक्तिगत असुर हैं, इन सभी का नाश करने के बाद माँ ने उन्हें अपने शरीर पर धारण कर रखा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अशुद्ध विकल्परूप नहीं, शुद्ध विकल्परूपी जो अहंभाव है, उनका त्याग न कर उसे अपने शरीर पर उन्होंने धारण कर रखा है। इसके द्वारा साफ है कि माँ चतुर्वर्गफलप्रदा हैं।



५

कौलिक दृष्टि से शक्ति का विकास-क्रम

शाक्त-सम्प्रदाय के लोग अद्वैत होते हैं। शाक्तों में विभिन्न दृष्टिकोण हैं, किन्तु इनमें कुलाम्नाय दृष्टि ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस दृष्टि के अनुसार विश्व के ऊर्ध्व में जो परम सत्ता है, वह अकूल नाम से प्रसिद्ध है। यह अनन्त महासमुद्र है। इसमें तरंग का उन्मेष जब नहीं रहता तब यह अवस्था विश्वतिरोधान की दशा में अवस्थान करती है। परमेश्वर के मुख्य पंचकृत्यों में तिरोधान और अनुग्रह ही प्रधान है। तिरोधान की अवस्था में अपना स्वरूप छिपा रहता है और उसकी पृष्ठभूमि में प्रमाता-प्रमेयादिसमन्वित समग्र विश्व का उद्‌भव होता है। इसके बाद जब तक विश्व का उपसंहार नहीं होता तब तक विश्व-लीला चलती रहती है। अन्त में अनुग्रह-शक्ति संचार होने के बाद तिरोधान-शक्ति का कार्य समाप्त हो जाता है तथा पूर्ण स्वरूप में प्रत्याहृत होता है।

इस अकूल समुद्र को अनन्त, अपार बोधरूप समझना होगा। इसमें जब तक तिरोधान-शक्ति की लीला होती है, तब तक तरंगों का उन्मेष नहीं होता। लेकिन जब ऊर्मि या तरंगों का उन्मेष होने लगता है तब यह समझना चाहिए कि तिरोधान-शक्ति निवृत्ति की ओर है। ऊर्मि-तरंग अनुग्रहात्मक होते हैं। यह स्पन्दनस्वरूप हैं। जो जीव या पशु आत्मा इसका संस्पर्श पाते हैं, उनका सांसारिक जीवन में परिवर्तन आरम्भ हो जाता है। यह परिवर्तन क्रमशः संघटित होते-होते उसे पूर्ण एवं परमस्थिति तक पहुँचा देता है। यही स्पन्द बोधसमुद्र का एक तरंगमात्र है, इसे चित्शक्ति का उन्मेष समझना चाहिए। यही चित्शक्ति जाग्रत् होकर समग्र संसार तथा उसके मूलीभूत अविद्या के कार्य-विकल्पों का अवसान (नाश) करती है।

जीव या पशु अनादिकाल से विकल्प राज्य में निवास कर रहे हैं। जब उन्मेषप्राप्त चित्शक्ति अनुग्रह के समय जीव को स्पर्श करता है तब जीव की विकल्प-दृष्टि बदलने लगती है और (उसकी) सत्ता में परिवर्तन संघटित होने लगता है। चित्शक्ति जाग्रत् होकर सर्वप्रथम काल को ग्रसित करती है, क्योंकि काल

ही जीव में विकल्प का जनक है। इसलिए इस शक्ति को कालसंकर्षिणी कहा जाता है। काल का जब ग्रास हो जाता है तब जीव विकल्प के अधीन नहीं रहता। लेकिन यह बात साधारणतया क्रमशः होती है। इस क्रमिक शुद्धि के बारे में जीव सर्वप्रथम प्रमेय-शुद्धि का अनुभव करता है। जब तक प्रमेय-शुद्धि नहीं होती तब तक जीव का रूपान्तर नहीं होता। प्रमेय-शुद्धि का साधारण लक्षण यह है कि विराट् विश्व अपने से बाहर प्रतीत नहीं होता। शरीर से आत्मा पृथक् है जब यह बोध होता है तब विश्व बाह्य रूप में प्रतीत नहीं होता। इसे कहते हैं—प्रमेय-शुद्धि। बाह्य आभासों की निवृत्ति के यही लक्षण हैं।

प्रमेय-शुद्धि होने पर बाह्य जगत् नहीं रहता। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्य जगत् का अस्तित्व नहीं होता। जगत् रहता है, उसका बोध भी रहता है, पर बाह्यरूप में नहीं, वह अपने अन्तर में है, ऐसा अनुभव होता है। जैसे दर्पण में प्रतिभासमान पदार्थ दर्पण से अतिरिक्त लगने पर भी वास्तव में वह अतिरिक्त नहीं है—दर्पण में ही विद्यमान है, उसी प्रकार चित्शक्ति का प्रथम उन्मेष अथवा जागरण में जगत् का बाह्य आभास निवृत्त हो जाता है। प्रमेय का बोध रहता है, पर बाह्यरूप में नहीं। जाग्रत् चित्शक्ति बुभुक्षुस्वरूप—सर्वप्रथम बाह्य जगत् को आत्मसात् करती है। यही अनुग्रहशक्ति का प्रथम निदर्शन है। इस बारे में शंकराचार्य ने कहा है—

"विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्
मायया बहिरिव उद्भूतम्"

अतएव सिद्धान्त यह है कि चित्शक्ति बाह्य-जगत् को ग्रास करके अपने अन्तर में ले आती है। प्रमेयरूपी जगत् का लोप नहीं होता, पर इन्द्रियग्राह्य विषयरूप में प्रतिभात नहीं होता, आत्मा के स्वरूप के अन्तर्गत रूप में प्रतिभात होता है।

विसर्ग-शक्ति में विश्व आत्मस्वरूप के बाहर प्रतिभासमान होता है और बिन्दु के प्रभाव से भीतर आता है। इस प्रकार चित्शक्ति विषयरूप में बाह्य जगत् को ग्रहण कर तृप्त होता है। इस प्रक्रिया से विषय का विषयत्व निवृत्त हो जाता है। इस वजह से फिर विषयभोग नहीं रहता। उस वक्त विषयज्ञान रागात्मक रूप धारण करता है। इस स्थिति में विषय-ज्ञान रागरूप हो जाता है अर्थात् रागरूप हो जाता है, जिसे पराशक्ति निर्विकल्प रूप में अनुभव करती है। जाग्रत् चित्शक्ति के विकास का यह प्रथम स्तर है। इसका नाम है—प्रमेय-शुद्धि। यह पशु या बद्धजीव का भोग नहीं है। तांत्रिक दृष्टि से यह वीरों का भोग है—यही यथार्थ भोग है। यह तुरीय दशा का स्वरूप है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों स्थितियों में इस भोग की निवृत्ति नहीं होती। इस भोक्ता का नाम है—'वीरेश्वर' या 'महावीर'। इसीलिए शिव-सूत्र में वीरेश्वर को 'त्रित्रय भोक्ता' कहा गया है और पृथक्-पृथक् दशा के

भोक्ता का नाम 'पशु' है। यही यथार्थ भगवद्-अर्चना है। इस समय प्रत्येक इन्द्रिय से भगवान् की पूजा होती है। जागतिक स्थूल दृष्टि से जिसका नाम आँखों द्वारा रूपदर्शन अथवा श्रोत्र द्वारा शब्दग्रहण है, यह सब भगवत्-उपासनास्वरूप—पूजास्वरूप हैं। वीरेश्वर या वीरेन्द्र का भोग यथार्थ भगवत्-उपासना जो सर्वावस्था में अविचलित रहता है।

शंकराचार्य ने इस स्थिति के बारे में कहा है—

"यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।"

ऐसी स्थिति में प्रत्येक कर्म आराधनास्वरूप है। प्रस्तुत वीरभोग समाप्त होने के बाद तृप्ति का उदय होता है, इसके बाद अन्तर्मुखदशा का आविर्भाव होता है। इन्द्रियाँ विषयभोग के बाद तृप्त होती हैं एवं चिदाकाशरूपी भैरवनाथ के साथ आलिंगित करते हुए अभिन्नता प्राप्त करते हैं। (इन्द्रिय-वर्ग में जितने दिनों तक विषयभोग की आकांक्षा रहती है, उतने दिनों तक आलिंगित दशा का उदय नहीं होता।) इन दिनों विषयभोग नहीं रहता और न उसकी आकांक्षा। करणवर्ग मातृप्रमातृस्वरूप में प्रविष्ट होता है अर्थात् प्रमाता के साथ पहुँच जाता है। इस परिस्थिति में प्राणायाम की क्रिया नहीं रहती अर्थात् श्वास-प्रश्वास नहीं रहता। कहने का मतलब प्रमाण और प्रमेय का सम्बन्ध नहीं रहता। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि उस समय के लिए मन तथा प्राण की क्रिया निवृत्त हो जाती है।

प्रमाता का मूल एक ही है—वही परप्रमाता। परासंवित् उसका स्वरूप है। आगे जिस स्थिति का वर्णन कर चुका हूँ, प्राचीन आचार्यों ने उसे महायोग कहा है जिस स्थिति में सूर्य और चन्द्र दोनों ही अस्तमित हो जाते हैं। चन्द्र (मन) अर्थात् प्रमाण-प्रमेय का संघर्ष, सूर्य (प्राण) अर्थात् प्राणापान का संघर्ष है। तत्काल के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों ही अस्तमित होते हैं। यह सामयिक स्थिति है। इस स्थिति में प्रमाण-प्रमेय मिलकर एक हो जाते हैं तथा प्रमाण प्रमेय में जाकर लीन हो जाता है अर्थात् त्रिपुटी का भेद-बोध नहीं रहता। इस प्रकार ७२ हजार नाड़ियों से श्वास-प्रश्वास की क्रिया निवृत्त हो जाती है तथा इस समय प्राणापान साम्य प्राप्त करता है। इसी को आध्यात्मिक शिवरात्रि कहते हैं। शिवरात्रि में जागने का नियम है। ऐसी स्थिति में योगी को जागते रहना चाहिए अर्थात् स्वरूपानुसंधान में लगे रहना चाहिए। यही योगी का परीक्षास्थान है। पूर्ण स्थिति से अभिन्न होते हुए भी यह अभिन्न नहीं है। क्योंकि इससे च्युति हो सकती है। स्वरूपानुसंधान में न रहने पर इस अवस्था में महामाया में पतन हो सकता है, पर स्वरूपानुसंधान अक्षुण्ण रहने पर योगी निरावरण प्रकाशरूप परासंवित् तक पहुँच सकते हैं। निरावरण प्रकाश का उदय ही जीव का परम लक्ष्य है। जिस अवस्था को आध्यात्मिक शिवरात्रि कहा गया है, इसे उच्चकोटि के योगी 'अनाख्या दशा' कहते

हैं। इस अवस्था में निरावरण प्रकाश तक विकास होने पर यह 'भासा' के रूप में आत्मप्रकाश करता है।

अनाख्या से भासा तक जाने के लिए कई एक भूमियाँ हैं। सर्वप्रथम प्रमेय के संस्कार से निवृत्त होना चाहिए, पर इससे प्रमेयशून्य प्रमाणरूप में स्थिति होती है। इस स्थिति में पूर्ण सिद्ध होने पर प्रमातृभाव में प्रवेश होता है। प्रमातृभाव में भी अवान्तर विशेष है। अन्तिम स्थिति में परमातृभाव उदय होता है। यही परमशिव की दशा है। इस ऊर्ध्वगति में प्रमाता उत्तरोत्तर विभिन्न अवस्थाएँ प्राप्त करता है। आदित्यावस्था, रुद्रावस्था, भैरवावस्था क्रमशः उदित होती हैं। इसका अर्थ यह है कि निवृत्ति के बाद करणरूपी प्रमाण में प्रवेश तथा अन्त में कर्तृरूपी प्रमाता में प्रवेश करना पड़ता है। ऊर्ध्वगति के प्रभाव से जब रुद्रावस्था के बाद भैरवावस्था का आविर्भाव होता है तब पहले-पहल महाकाल भैरव का उदय होता है। इसके बाद कालसंकर्षण का चक्र पूरा होने के बाद विश्वजननी तथा जगदम्बा परासंवित् का आविर्भाव होता है। यही है—परप्रमातृरूपावस्था। परम शिवावस्था इसका नामान्तर है। परासंवित् की दो स्थितियाँ हैं। प्रथम कृश और द्वितीय पूर्ण। जैसे कालचक्र में प्रतिमास शुक्ल और कृष्णपक्ष का आवर्तन होता है, उसी प्रकार परम स्थिति में भी कृष्णपक्ष स्वरूप अवस्था है। यही महाशक्ति की कृशदशा तथा शुक्लपक्ष के अनुरूप पूर्णदशा है। कृशदशा में कलारू" महाशक्ति प्रायः निवृत्त हो जाती है, केवल अमाकला रहती है। अन्त में सभी कलाओं का अवसान हो जाता है। पूर्णावस्था में सभी कलाओं का पूर्ण विकास होता है। चित्कला या चित्शक्ति का पूर्ण विकास होने पर यह समझ लेना चाहिए कि महाशक्ति का पूर्ण जागरण हो गया है।

प्रमेय-शुद्धि के बाद प्रमाण-शुद्धि तथा उसके बाद प्रमातृ-शुद्धि सम्पन्न होने के बाद इस पूर्ण दशा का आविर्भाव होता है। ज्ञानमार्गी के विभिन्न प्रकार के साधक शक्तिहीन ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। शक्तिहीन ब्रह्म जागतिक दृष्टि से शक्तिहीन होने पर भी वास्तव में वे निष्कल नहीं हैं, क्योंकि उसमें अमाकला नित्य वर्तमान रहती है। कौलमार्गीय अद्वैत शक्तिसाधकों के अलावा अन्य कोई महाशक्ति की पूर्ण दशा का विवरण नहीं दे सकता। जागरण की पूर्ण दशा में सब कुछ चिन्मय होता है। प्रमेय-शुद्धि से बाह्य ज्ञान के चिन्मयत्व की सूचना मिलती है। इस प्रमेय के अनुरूप प्रमाण तथा प्रमाता के भेद जब शुद्ध हो जाते हैं तब पूर्ण जाग्रत् दशा का उदय होता है। यही महाशक्ति की पूर्णावस्था है। (जागरित)

इसे समझ लेने पर महाकाल के साथ महाशक्ति का क्या सम्बन्ध है, इसे जाना जा सकता है। काल के ऊपर महाकाल, महाकाल के ऊपर संवित् स्वयं हैं। अन्त में काल की निवृत्ति होती है, यहाँ तक कि महाकाल की भी निवृत्ति होती है—यही पूर्णत्व है।

●

६

साधक-दीक्षा और योगी-दीक्षा

अध्यात्म-साधना में गुरु का स्थान अन्यतम होता है। माता के गर्भ में जिस प्रकार बीज-रूप में सन्तान रहता है और क्रमशः विकसित होकर अंग-प्रत्यंग में परिपुष्टता प्राप्त करता है, इसके बाद प्रसव-क्रिया के माध्यम से बाहर आकर इन्द्रियगोचररूप में प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार गुरुदत्त बीजमंत्र साधक के हृदय-क्षेत्र में दीक्षा के माध्यम से स्थापित होता है तथा शिष्य के द्वारा यथाविधि शोधित और रक्षित होता है, बाद में अंकुरित होकर आकार धारण करता है। आगे चलकर अर्थात् भविष्य में उक्त साकार देवतामय सत्ता इष्ट-देवता के रूप में प्रकट होता है। इष्ट-साधना का फल भी प्रसव के अनुरूप है। दीक्षा के बाद गुरुप्रदत्त कर्मों का यथाशक्ति सम्पादन करने पर क्रमशः ज्ञान और ज्ञान से भक्ति का आविर्भाव होता है। जगत्प्रसिद्ध साधारण शुष्क ज्ञान के साथ भक्ति का सम्बन्ध नहीं होता। शास्त्रजनित ज्ञान का भी विशेष मूल्य नहीं होता। उससे अपरोक्ष ज्ञान का उदय नहीं होता। वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि गुरुप्रदत्त कर्म से होती है।

सद्‌गुरु शिष्य का आधार समझकर दीक्षा देते हैं। वे शिष्य के आधार की योग्यता तथा प्रकृतिगत विलक्षणता देखकर योग की शिक्षा देते हैं। आधार अगर दुर्बल है तो दीक्षादान नहीं होता। योगी तथा साधक के अधिकार का निर्णय जन्मकाल से ही होता है। जीव क्षण में जन्म लेने पर योगी और काल में जन्म लेने पर साधक बनता है। क्षण में जन्म लेने पर अधिकार का तारतम्य रहता है।

साधक-दीक्षा और योग-दीक्षा में अन्तर है। दोनों दीक्षाओं से कुण्डलिनी का जागरण होता है। शिष्य अपने प्रयत्नों से भी कुण्डलिनी-जागरण कर सकता है, पर यह बड़ा कठिन कार्य है। साधक की दीक्षा में शक्ति का इतना संचार हो जाता है कि जिसके साथ पुरुषाकार का योग हो जाय तो कुण्डलिनी जाग जाती है। कुण्डलिनी एक शक्तिमय ज्योति है। यह शक्तिमय ज्योति साधकों के लिए एक स्थिति में रहती है और योगी के लिए भिन्न स्थिति में। दीक्षा के बाद गुरुप्रदत्त नित्यकर्म करते-करते जाग्रत् शुद्ध तेज क्रमशः प्रज्ज्वलित हो उठता है और साधक

की सत्तावाली वासना, संस्कारादि के मायिक आवरण को भस्म कर देता है। इस प्रकार साधक का क्रमशः उत्कर्ष होता है। अन्त में सिद्धावस्था में समस्त वासना का क्षय हो जाता है एवं पूर्वोक्त जाग्रत् कुण्डलिनी-शक्ति इष्ट देवता के रूप में अपरोक्ष भाव में प्रकट होती है, पर उस समय साधक का देह नहीं रहता, देहावस्था में सिद्धि प्राप्त नहीं होती। सिद्धि के आविर्भाव के साथ-साथ देहान्त हो जाता है।

योगी का आधार इससे विलक्षण या भिन्न होता है। सद्गुरु दीक्षा के दौरान कुण्डलिनी को जगा देते हैं। इस स्थिति में केवल ज्योतिरूप में प्रकाशित नहीं होती, जैसा कि साधक के बारे में होता है। कुण्डलिनी शक्ति साकार परिनिष्पन्न रूप में आविर्भूत होती है। साधक जीवनभर साधना करने के पश्चात् अन्त में इष्टरूप प्राप्त करता है, योगीगण इसे प्रारम्भ में ही प्राप्त कर लेते हैं। इसके अलावा साधकों के कर्म से योगजनित कर्म में विलक्षणता तथा विशेषता रहती है। साधक ज्योति को इष्टरूप में अपने कर्मों के द्वारा परिणत करता है, पर योगी अपने कार्यों के द्वारा साकार इष्ट के रूप की आराधना शुरू करते हैं। साधक की वासना जल जाती है। इसी कारण से वह निराकार ज्योति का उपासक बनता है, पर योगी का सामर्थ्य अधिक होता है। यही वजह है कि उसे वासना आदि का त्याग नहीं करना पड़ता। योगी वासना आदि को निर्मल बनाता है, अपने स्वरूप के साथ जोड़ लेता है—यही है योग। इसीलिए वे शरीर से भी साकार इष्ट का दर्शन कर लेते हैं। योगी जब पूर्ण सिद्ध हो जाता है तब उन्हें महाज्ञान मिलता है। घर्षण से जिस प्रकार अग्नि उत्पन्न होती है, इसी प्रकार योगकर्मरूप घर्षण से जिदग्नि उत्पन्न होती है। यही ज्ञानाग्नि है। इस ज्ञान में शुष्कता नहीं रहती, क्योंकि इसके प्रभाव से पूर्ण भगवत्-सत्ता का प्रकाश होता है और जीव पराभक्ति के स्तर तक उन्नीत हो जाता है। ज्ञान से भक्ति की उत्पत्ति का यही रहस्य है।

संसार में प्रचलित भक्ति उन्मादिनी-भक्ति है। योगी जिस भक्ति को मानता है, उसके साथ ज्ञान का कोई विरोध नहीं है। इस भक्ति की परिपक्व अवस्था ही प्रेम है। यही साधन—जीवन का परिपूर्ण विकास है। इस विषय का सिद्धान्त यह है कि योगी गुरु-कृपा के प्रभाव से साधन-क्रियारूप में, विभिन्न प्रकार की विभूति बन जाता है, इसे योग-विभूति कहा जाता है। यथार्थ योगी ईश्वर है, जिनके अधीन अचिन्त्य-शक्ति-स्वरूपिणी माया है। इसीलिए ईश्वरत्व प्राप्त करने पर योगी का आदर्श पूर्ण हो जाता है, तभी वह अलौकिक शक्ति का अधिकारी बनता है। इसमें तीन शक्तियाँ प्रधान हैं—इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया। ज्ञानशक्ति पूर्ण होने पर योगी सर्वज्ञ तथा क्रिया के प्रभाव से सर्वकर्ता बन जाता है। ज्ञान एवं क्रिया के समन्वय से विज्ञान-शक्ति का आविर्भाव होता है। विज्ञान-शक्ति की सहायता से योगी सृष्टि आदि कार्य कर सकता है। विज्ञान-शक्ति के मूल में प्रकृति की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि प्रकृति से कार्य उत्पन्न करने के लिए उसका क्रम ज्ञान-

शक्ति से क्रिया-शक्ति के द्वारा अनुसरण करना पड़ता है। लेकिन इच्छा-शक्ति इस प्रकार की नहीं है। इच्छा के प्रभाव से योगी कोई भी कार्य कर सकता है, किसी प्रकार का ज्ञेय (चीज) जान सकता है, इसलिए यहाँ ज्ञान-शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। इच्छा-शक्ति के उदय होने पर ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, पर कार्य होता है। क्रिया की जरूरत नहीं होती, पर कार्य होता है। इसके बाद योगी इच्छाशक्तिसम्पन्न होकर समस्त ऐश्वरिक कार्य आवश्यकतानुसार करता है एवं कर सकता है। इसके बाद एक समय ऐसा आता है, जब इच्छा-शक्ति को महाइच्छा के निकट अर्पण करना पड़ता है, तब सभी अपरिच्छिन्न आनन्दस्वरूप में स्थिति प्राप्त करता है। इस स्थिति में योगी के मन में कोई कार्य करने की इच्छा नहीं होती। सभी कार्य महाइच्छा के कारण हो जाता है। योगी सर्वदा परमानन्द में डूबा रहता है। आनन्द में भी एक प्रकार का तरंग रहता है, क्योंकि अनुकूल भाव में आनन्द और प्रतिकूल भाव में दुःख होता है। योगी जब अनुकूल-प्रतिकूल के द्वन्द्वों का परित्याग करता है तब चित्शक्ति पर आरूढ़ होता है। यही पराशक्ति का बाह्य स्वरूप है, जिसका सहारा लेने पर समग्र विश्व का बोध होता है। इस स्थिति तक पहुँच जाने पर कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। इस वक्त योगी नित्यलीला में मग्न रहते हुए भी एक ओर उदासीन और दूसरी ओर पूर्ण स्वातंत्र्य एवं कर्तृत्व-शक्तिसम्पन्न हो जाता है।

●

७

आगमिक दृष्टि से साधना

आगम-शास्त्र के अनुसार साधन-प्रणाली को द्विविध दृष्टि से देखा जाता है। एक दृष्टि में कैवल्यभाव मुख्य है—पुरुषकैवल्य अथवा ब्रह्मकैवल्य। सभी दृष्टियों में भगवत्ता अथवा परन शिवत्व तथा स्वातंत्र्यमयी परासंवित् की प्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य है। सांख्य-साधना का लक्ष्य है, विवेक ज्ञानमूलक कैवल्यलाभ—पुरुष अपने केवल स्वरूप में प्रकृति से मुक्त होकर प्रतिष्ठित होता है। यह पुरुष चित्स्वरूप है। वेदान्त का कैवल्य भी लगभग इसी प्रकार की निरंजन भाव-प्राप्ति है। वेदान्त-सांख्य में इतना ही भेद है कि सांख्य में अनेक आत्माएँ हैं और वेदान्त में एक। सांख्य में त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरूपा है और वेदान्त में अनिर्वचनीय मायारूपा। आत्मा की स्वरूपस्थिति लगभग एक ही प्रकार की है। आत्मा का परमेश्वरत्व अर्थात् पूर्णत्व दोनों ही दुर्लभ हैं। सांख्य का ज्ञान, विवेक ज्ञान और आत्मा की स्थिति अचित् से मुक्त होकर चित् स्वरूप में जाता है। लेकिन इससे विमर्श नहीं रहता। वेदान्त में भी यही स्थिति है—विमर्श-हीन स्थिति, किन्तु इससे आत्मा की स्वातंत्र्य-शक्ति का विकास नहीं होता।

आगमिक दृष्टि से इसमें और भी विलक्षणता है। उसका लक्ष्य भी अचित् से चित् को पृथक् करना है—अचित् प्रकृतिरूपा, मायारूपा या महामायारूपा क्यों न हो। आत्मा के स्वतःसिद्ध शिवत्व का उद्बोधन नहीं होता। इसके लिए चित्स्वरूप के साथ चिद्रूपा स्वरूपशक्ति का विकास होना जरूरी है तभी चित्स्वरूप शिवरूप में प्रकट हो सकता है। वास्तव में शिव-शक्ति अभिन्न हैं; दोनों ही चित्स्वरूप तथा आनन्दस्वरूप हैं। शिव-शक्ति का सामरस्य पूर्णत्व में मोक्ष प्रदान करता है। इसीलिए मोचकज्ञान तथा तारकज्ञानयुक्त आत्मा चित्स्वरूप है, केवल यही जानना पर्याप्त नहीं है। चित्स्वरूपभूता शक्ति की उसमें स्वतंत्ररूप में अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसी का नाम है—स्वातंत्र्यमय बोध। जो शैवदृष्टि से है और शाक्तदृष्टि से बोधात्मक स्वातंत्र्य है।

स्वातंत्र्य और बोध में व्यवधान होने पर विश्व की सृष्टि होती है। इससे अज्ञान का आविर्भाव होता है अतएव मुख्य ज्ञान जो है, वह है—शुद्ध विद्या। सद्गुरु इसी शुद्ध विद्या का संचार करते हुए जीव को शिवत्व प्रतिष्ठित करते हैं। अनात्मा में अनात्मबोध जिस प्रकार अज्ञान है, ठीक उसी प्रकार आत्मा में अनात्मबोध अज्ञानप्रसूत है। आत्मा में आत्मबोध ही मुख्य ज्ञान है, लेकिन यह बात सांख्य या वेदान्त में नहीं है। इस ज्ञान को पूर्णहन्ता ज्ञान कहा जाता है, जिस ज्ञान के कारण जीव अपने को परमशिव रूप में अथवा परमेश्वररूप में अनुभव कर सके। केवल त्रिगुण या माया से मुक्त होने पर नहीं।

विवेक ज्ञान द्वारा आत्मा अचित् से मुक्त होने पर उसका चिद्रूप प्रकट होता है। लेकिन उक्त चिद्रूप का विशुद्ध रूप में साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए अविवेक निवृत्त होंने पर भी आत्मा अपने को नहीं जान पाती। आगम के अनुसार आत्मा में अनात्मबोध ही अज्ञान है। यह विशुद्ध मायाराज्य की बात है। प्रकृति अथवा मलिन माया के परे की बात है। शुद्ध विद्या उत्पन्न होने पर सर्वत्र अहंरूप का अनुभव होता है। 'इदं' भाव का क्रमशः ह्रास होने लगता है। जब इदं पूर्ण रूप से गायब हो जाता है तब एकमात्र अहंभाव रह जाता है। यही पूर्ण ईश्वर, परमेश्वर या परमशिव हैं। शाक्त दृष्टि से यही परासंविद्, आद्याशक्ति, महाशक्ति अथवा जगदम्बा हैं।

●

८

प्रेम-साधना

प्रत्येक साधना में जो स्वाभाविक मार्ग है, वही श्रेष्ठ है। कृत्रिम उपाय से भी कर्मज्ञान, प्रेम यानी भक्ति की साधना होती है, पर यह आभासमात्र है।

यथार्थ प्रेम-साधना के लिए पहले भाव-साधना आवश्यक है। भाव-साधना है—स्वभाव की साधना। शास्त्र का कोई भी विधि-निषेध इसमें नहीं रहता। जब तक इस मायिक देह में अभिमान रहता है तब तक प्रेम-साधना तो दूर की बात, भावसाधना भी सम्भव नहीं है। भाव माने स्वभाव। माया के आवरण में हमारा स्वभाव आच्छन्न है। सबसे पहले इस आच्छादन तथा आवरण को हटाना होगा। इसके लिए नाना प्रकार के उपाय हैं, जिनमें मंत्रशक्ति प्रधान है। पहले नाम-साधना या अन्य किसी प्रकार की साधना करना तब तक उचित है, जब तक सद्‌गुरु नहीं मिलते। प्रारंभिक साधना वास्तविक साधना नहीं है, क्योंकि जब तक सद्‌गुरु की कृपा नहीं होती तब तक अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं किया जा सकता। निरन्तर नाम जपते रहने या प्रकारान्तर से सद्‌गुरु की कृपा होती है। गुरु-प्राप्ति होने पर मंत्रादि किसी क्रम में दीक्षा होती है। दीक्षा के बाद उपासना-कार्य प्रारंभ होता है। उपासना से भौतिक देह की शुद्धि होती है और चित्त की भी। इस शुद्धि के प्रभाव से माया का आवरण हट जाता है। इस आवरण में प्रत्येक आत्मा का निज भाव अथवा 'स्वभाव' छिपा रहता है। आवरण के हटते ही 'निज भाव' खुल जाता है। इसी का नाम स्वभाव की प्राप्ति है। गुरु, शास्त्र, उपदेश, दृष्टान्त आदि सब कुछ इस आवरण को हटाने के लिए है। आवरण के हटने पर क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर गुरु अथवा शास्त्रों में नहीं मिलता। यह अभावात्मक बात है और निजभाव खुल जाना भावात्मक है। यह भाव प्रत्येक आत्मा में अलग-अलग होते हैं।

भाव की दो विशेषताएँ हैं। एक भाव का आश्रय (सब्जेक्ट) तथा दूसरा विषय (ऑब्जेक्ट)। भाव आश्रय विषय का अवलम्बन करते हुए स्फुरित होता है। भाव का जो आश्रय है, उसी का नाम है—भक्त। यह भक्त देहधारी आत्मा

है, पर यह देह मायिक देह नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म देह नहीं है और न कारणदेह है। इसीलिए कहा गया है कि भावदेह मायिक नहीं है।

देह के रहने पर आत्मा को उसके प्रति अभिमान होता है। जैसे आत्मा के स्थूल देह में अभिमान रहता है, उसी प्रकार भाव के जागरण पर भावदेह में अभिमान होता है। इस स्थिति में साधक का स्थूल देह किसी प्रकार का विक्षेप उत्पन्न नहीं कर पाता। अगर ऐसा करता है तो समझना चाहिए कि जागतिक भाव अभी तक शुद्ध नहीं हुआ है। उदाहरणस्वरूप एक अशीतिवर्ष वृद्ध का भावदेह १० वर्ष के बालक की तरह हो सकता है। वह इसलिए कि वृद्ध जब माँ की उपासना करता है तब वह भावरूप में शिशु हो जाता है। यह भावदेह अमूर्त नहीं आकारविशिष्ट होता है। इस आकार में आत्मा का अहंरूप में अभिमान होता है। जब तक भावदेह में अभिमान नहीं होता तब तक भाव-साधना सम्भव नहीं है, क्योंकि यह विचारणीय विषय नहीं है। भावदेह प्राप्त होने पर जैसे एक पक्ष से भावुक तथा भक्त का स्वाभाविक स्फुरण होता है, उसी प्रकार पक्षांतर से भाव के विषय का भी आविर्भाव होता है। भाव का आश्रयरूप जब भावदेह में प्रकट होता है तब धाम आदि का प्राकट्य होता है। जब तक भाव की परिपक्वता नहीं होती तब तक विषय प्रकट नहीं होता। भाव की परिपक्वता के उपाय ही भाव-साधना है।

भाव परिपक्व हो जाने पर प्रेम में परिणत होता है। इसकी स्थिति फूलों के सुगंध की तरह होती है। यही सुगंध जब रस का रूप लेकर मधु में परिणत होता है तब प्रेम पदवाच्य हो जाता है। फूल में मधु के आ जाने पर मधुमक्खियों को आकर्षित नहीं करना पड़ता, अपने-आप आती हैं, इसी प्रकार भाव प्रेम में परिणत होने पर भगवत्स्वरूप स्वतः आविर्भूत होता है। उनका आवाहन नहीं करना पड़ता। क्रियात्मिका भक्ति भी जब तक भावरूप में परिणत नहीं हो जाती तथा भाव का ठीक से परिपाक नहीं होता तब तक भाव के विषय को भगवान् का दर्शन प्राप्त नहीं होता। उदाहरण के लिए अगर मातृभाव को लिया जाय तो समझना होगा कि भावदेहरूपी शिशु भाव के परिपक्वता के प्रभाव से प्रेमदेह प्राप्त करने के बाद मातृस्वरूप विषय का आविर्भाव होता है, इसके पूर्व नहीं। यह एक प्रकार से प्रेम-सिद्धि है, क्योंकि प्रेमाधार और प्रेमाश्रय समानाधिकार हो गये हैं। अर्थात् माँ की गोद में शिशु जाकर बैठ गया है। लेकिन यह प्रेम का चरम विकास नहीं है। जैसे भाव का विकास प्रेम में है, उसी प्रकार प्रेम का विकास रस में होता है। भावदेह में द्वैत रहते हैं—सन्तान और माँ का युक्त अनुभव होता है, पर माँ के साथ सन्तान का और सन्तान के साथ माँ की अभेद उपलब्धि नहीं होती। प्रेम गहरा होने पर होता है—'गलनात् द्रुतिं'। आगे चलकर जब रस-रूप में परिणत हो जाता है तब सन्तान और जननी दोनों ही रसमय हो जाते

हैं। यही रसमय तनु परमेश्वर की दिव्यलीला में प्रवेश करने के योग्य हो जाता है। क्रियात्मिका भक्ति के प्रभाव से यह सम्भव नहीं है। भाव-भक्ति का विकास अगर रस तक नहीं हुआ तो यह अवस्था प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। तनु के रसमय होते ही भगवान् की नित्यलीला में परिकर बना जा सकता है। यही भक्ति-साधना के माधुर्य-विकास की चरम स्थिति है।

इसके अलावा भक्ति-साधना में ऐश्वर्य के विकास के लिए एक अन्य धारा है। उसके विकास के समय भक्त और भगवान् या सन्तान और जननी में व्यवधान रहता है। इसीलिए भक्त भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य को देखकर अभिभूत हो जाता है। माधुर्य के पूर्ण आस्वादन के लिए यह पद्धति बाधक होती है। इस प्रसंग में भक्तों की दृष्टि के अनुसार चौंसठ गुणों का परिचय आवश्यक है। इसे गुण कहो या कला, एक ही बात है। इस दृष्टि से जीव का जब चरम विकास हो जाता है तब मनुष्यत्व पूर्ण अभिव्यक्ति का अधिकारी होता है। उनचास गुण और एक महागुण मिलकर पूर्ण मनुष्य के स्वरूप का निर्देशन करता है। इसे नरोत्तम संज्ञा कहते हैं। आत्मा मनुष्य-देह में उत्तम कोटि में रहने पर भी परमात्मा के स्तर तक उत्थित नहीं हो सकती। परमात्मा और आत्मा का स्वरूप एक ही है, किन्तु गुण की अभिव्यक्ति की दृष्टि से परमात्मा ऊपर और आत्मा नीचे है। कोई भक्त भक्ति-मार्ग पर चलते-चलते पचास गुणों का विकास प्राप्त कर लेता है, फिर भी वह नरोत्तम रूप के योग्य नहीं होता। ५१ से ५६ तक गुणों का विकास होने पर परमात्मा के रूप में परिगणित होने लायक बन जाता है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। माया-शक्ति परमात्मा के और जीवात्मा माया के अधीन होता है, स्वरूप में एक ही आत्मा है, केवल विकास में तारतम्य होता है। ५६ से ६० तक गुणों का विकास होने पर जीव परमात्मा के भावों से ऊपर उठकर भगवद्भाव प्राप्त करता है। जिस प्रकार जीवात्मा-परमात्मा एक ही वस्तु है, किन्तु एक होकर भी जीवात्मा अधीन और परमात्मा अनधीन है, उसी प्रकार परमात्मा और भगवान्-तत्त्व एक ही है, किन्तु भगवान् की स्थिति में माया से सम्बन्ध नहीं रहता। अर्थात् भगवद्-भूमि में माया का स्पर्श या क्षोभ तो दूर की बात है, वह दिखाई तक नहीं देता। यही भगवदावस्था, ईश्वरावस्था है, किन्तु मायाधिष्ठाता परमात्मा के ऊर्ध्व में। भगवान् स्वरूपशक्ति के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखते हैं। सन्धिनी और संवित् की पूर्ण अभिव्यक्ति भगवद्-अवस्था में होती है, किन्तु इस अवस्था में ह्लादिनी प्रधान शक्ति का आभासमात्र मिलता है। भगवद्-भक्त इस आभास को अनुभव करते हैं और इसे 'ऐश्वर्य भक्ति' कहते हैं। भगवान् में अनन्त योगशक्ति विद्यमान है। ऐश्वर्यमयी ह्लादिनी प्रधान भक्ति द्वारा भगवत्-स्वरूप के ऐश्वर्य को अनुभव किया जा सकता है। यहाँ भगवान् ऊर्ध्व और भक्त नीचे रहते हैं, क्योंकि इस प्रकार का सम्बन्ध हुए बिना ऐश्वर्य उत्पन्न नहीं होता अर्थात् युक्तियुक्त नहीं होता।

आत्मा में जब ६१ से ६४ तक गुणों का विकास हो जाता है तब भगवद्भाव के ऊर्ध्व अथवा अन्तरंग प्रदेश में स्वयं भगवान्-अवस्था का उदय होता है। उसमें माधुर्य प्रधान होता है। इस अवस्था में ऐश्वर्य पूर्ण रूप से रहने पर भी वह माधुर्य से अभिभूत रहता है। सामान्य मनुष्यों का समभाव भगवान् में प्रकट होता है। ब्रह्मभाव इन तीनों से पृथक् है। आत्मभाव से भी अभिन्न है, किन्तु उसमें गुणों का प्रकाश नहीं होता—यही इसकी विशेषता है। इसीलिए स्वयं भगवानावस्था को पूर्णब्रह्म कहा जाता है। स्वरूप में ब्रह्म तथा स्वयं भगवान् में भेद न रहने पर भी स्वरूप-शक्ति की महिमा के लिए स्वयं भगवान् को चरम उत्कर्ष माना जाता है। प्रेम के आश्रय बिना, खासकर रागमयी भक्ति के प्रभाव-संप्रसूत प्रेम के अलावा स्वयं भगवान् तक परम तत्त्व हृदय में नहीं पहुँचता।

●

६

प्राणायाम

प्राणायाम—प्राण को नियंत्रण करना।

जीवित अवस्था में मनुष्य के शरीर में प्राणशक्ति और मनःशक्ति दोनों निरन्तर क्रियाशील रहती हैं। इन दोनों का आपस में सम्बन्ध है, इसीलिए प्राण के चंचल होने पर मन चंचल होता है, मन चंचल होने पर प्राण चंचल हो उठता है। दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। साधारण योग-प्रणाली में पहले प्राण को नियंत्रित करना पड़ता है। प्राण को नियंत्रण करना ही प्राणायाम है। प्राणायाम आरम्भ करने के पूर्व आसन सिद्ध होना चाहिए। आसन सिद्ध होने पर लम्बे अर्से तक एक ही आसन पर बैठे रहने से शरीर में चंचलता नहीं उत्पन्न होती। योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले स्थिर होकर आसन पर बैठने का अभ्यास करे। आसन के स्थिर होने पर लम्बे अर्से तक शरीर में कम्पन नहीं होता। उस वक्त शरीर इतना हल्का हो जाता है कि शरीर है, इसका अनुभव नहीं होता। दीर्घकाल तक आसन ठीक तौर पर करते रहने पर बिना प्रयत्न के प्राण की क्रिया क्षणभर के लिए शांत हो जाती है। जब शरीर की ऐसी स्थिति हो जाती है तब गुरु समझ जाते हैं कि शिष्य प्राणायाम के योग्य हो गया है। इस समय प्रयत्न करके प्राणायाम करना चाहिए। यहाँ एक राज की बात बता दूँ। मनुष्य की अपनी सत्ता में अगर कुछ बाहर है तो वह है—शरीर। देह के आभ्यन्तर में पहले प्राण की क्रिया होती है। प्राण के स्तर के बाद मन की क्रिया होती है। और गहराई में जाने पर बुद्धि के स्तर तक पहुँचा जा सकता है। देह के स्तर तक रहने के लिए आसन का अभ्यास आवश्यक है। प्राणायाम में उत्तीर्ण होने पर उसकी क्रियाएँ इन्द्रिय और मन के ऊपर हो जाती हैं। यह प्रत्याहार-अवस्था है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर योगी बाह्य जगत् से विच्छिन्न हो जाता है। क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ क्रिया नहीं करतीं। इसके बाद वे अन्तर्जगत् में प्रवेश करती हैं। वहाँ की क्रिया का नाम है—धारणा-ध्यान-समाधि। उस समय बाह्य जगत् के बारे में कोई ज्ञान नहीं आता, पर मन के संस्कार कार्य करते रहते हैं। यह धारणा की अवस्था है। हाथ में पानी लेकर गिरा देने के बाद हाथ से टप-टप कर बूँद गिरता है, वह यही अवस्था है। मन के स्थिर होने पर ध्यान होता है। यहाँ

पर मन की क्रिया में अविच्छिन्न भाव तेल की धार की तरह होता है। यह ध्यान की अवस्था है। इसके बाद मन अभीष्ट विषय की ओर आकृष्ट होता है, मन का धारा-प्रवाह नहीं रहता। इसी का नाम है—समाधि। समाधि एक के बाद एक उच्चभूमि में करनी चाहिए। सर्वप्रथम समाधि का विषय है—स्थूल बाह्य आवरण। इसके बाद सूक्ष्म बाह्य आवरण। प्रथम को वितर्क समाधि और द्वितीय को विचार समाधि कहा जाता है। वितर्क समाधि की दो अवस्थाएँ हैं, विचार में भी दो अवस्थाएँ हैं। सवितर्क और निर्वितर्क या सविचार और निर्विचार आदि। यहाँ एक बात ध्यान रखनी होगी। किसी भी विषय पर चित्त की समाधि होने से प्रज्ञा का उदय होता है। इसे समाधिजनित ज्ञान कहते हैं। ज्ञान का उदय होने के बाद उस ज्ञान को निर्मल या शुद्ध करना पड़ता है। विकल्प ज्ञान का मूल सांकर्ष है। सविकल्प से निर्विकल्प में जाना ही ज्ञान की शुद्धि है। वितर्क भूमि पर शब्द और ज्ञान का सांकर्ष या मिश्रण होता है। यह सांकर्ष कैसा ? शब्द के साथ अर्थ के सम्बन्ध जैसा। इसी प्रकार ज्ञान के साथ अर्थ का सम्बन्ध है। इसीलिए ज्ञान में शब्द के संस्कार रह जाते हैं। इसी वजह से समाधि सविकल्प होती है। जब यह संस्कार या शब्द-संस्कार दूर हो जाता है तब ज्ञान निर्मल हो जाता है। इसे निर्विकल्प-अवस्था कहते हैं। जो सवितर्क है, वही सविकल्प-जो निर्वितर्क है वही निर्विकल्प है। इसके बाद सूक्ष्मतर से सविचार-निर्विचार समाधि में, सूक्ष्म विषय के बारे में सविकल्प-निर्विकल्प आदि भेद हैं। बाह्य जगत् के बारे में समाधि सम्भव नहीं है। उस समय समाधि करण वर्ग को लेकर होती है। इसके ऊपर ग्रहीता समाधि है, जिसे अस्मिता कहते हैं। यहीं सम्प्रज्ञात समाधि हो जाती है। इस अवस्था में विश्व का सभी ज्ञान अधिगत हो जाता है, पर आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। विवेक-ख्याति उदय नहीं होती। पर-वैराग्य उदय नहीं होता। इसके बाद योगी कैवल्य की ओर अग्रसर होता रहता है, उन्हें पर-वैराग्य का सहारा लेना पड़ता है। निम्नतर का वैराग्य विषय-वैराग्य होता है। यह स्थूल होता है। पर-वैराग्य प्रकृति से निःसृत वैराग्य होता है। यह सूक्ष्म होता है। इस स्थिति में विवेक-ख्याति की अभिव्यक्ति होती है। आगे चलकर पुरुष से साक्षात् अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होता है। साथ ही गुणमयी साक्षात्कार होता है। लेकिन गुणमयी प्रकृति के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। स्वयं की आत्मा अपरिणामी—प्रकृति परिणामशीला है। इसके बाद धीरे-धीरे आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त होती है, जो प्रकृति से नित्य मुक्त होती है। यही है राजयोग की साधना का क्रम।

विवेक ज्ञान और विवेकज ज्ञान दोनों अलग-अलग चीज है। विवेक ज्ञान पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान है। इसके फलस्वरूप पुरुष-प्रकृति का विवेक होता है। विवेकज ज्ञान अति श्रेष्ठ विभूतिस्वरूप है। विवेकज ज्ञान से बढ़कर अन्य कोई श्रेष्ठ ज्ञान नहीं है। क्षण एवं क्षण के क्रम या प्रवाह में संयम कर लेने पर विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी का एक अंश तारक ज्ञान है। तारक ज्ञान सभी विषयों के सभी प्रकार की अवस्था के सम्बन्ध में क्रमहीन है। जिसे हम लोग

सर्वज्ञत्व कहते हैं, वह तारक ज्ञान के अन्तर्गत है। यह विवेकज ज्ञान से उद्भूत होता है। विवेक ज्ञान और विवेकज ज्ञान में कितना अन्तर है, इससे स्पष्ट हो गया।

प्राणायाम के बारे में कुछ और बातें ज्ञातव्य हैं। प्राणायाम के तीन अंग हैं—पूरक, रेचक और कुम्भक। वायु की दो स्थितियाँ हैं—प्रथम स्थिर और स्तम्भित और द्वितीय स्पन्दनशील। वायु जब क्रिया करती है तब भीतर से बाहर जाती है। बाहर से भीतर प्रवेश करता है। स्तम्भित स्थिति में भीतर प्रवेश करने पर उसका नाम अन्तःकुम्भक हो जाता है। वायु जब बाहर स्थिर हो जाता है तब उसे बाह्य कुम्भक कहते हैं। अन्तःकुम्भक को पूरकान्त कुम्भक कहा जाता है। बाह्य कुम्भक को रेचकान्त कुम्भक कहते हैं। जब श्वास ग्रहण या त्याग की भावना न रख कुम्भक किया जाता है, उससे केवल कुम्भक की पूर्व सूचनामात्र कहा जाता है। आमतौर पर प्राणायाम की मात्राएँ हैं। यह शिष्य की योग्यता और गुरु के उपदेशानुसार साक्षेप होता है। १-४-२ यह तो प्रचलित अनुपात है अर्थात् श्वास-प्रश्वास की चौगुनी मात्रा में स्थिति के भीतर और दुगनी में रेचन। इस सम्बन्ध में अपने गुरुओं के निर्देशानुसार चलना चाहिए। इस बारे में एक रहस्य और कह दूँ। वायु की त्रिविध गति देखी जा सकती है। एक बाह्य तथा आभ्यन्तरिक गति, अधःऊर्ध्व गति—शरीर के नीचे से हृदय की ओर। दूसरी हृदय से ऊर्ध्वगति। यह गति अत्यन्त रहस्यमय है। इस गति के कारण चिदाकाश में सैश्रव होता है। हृदय से ब्रह्मरंध्र तक प्राण की ३६ अंगुल गति होती है। योगी के लिए इस गति का अधिकारी होना श्रेष्ठ है। प्राणायाम-क्रिया स्वयं अपने मन से नहीं करनी चाहिए। किंचित् व्यतिक्रम होने पर अन्य रोग हो सकते हैं। सामान्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रत्याहार के बाद जो अन्तरंग योग होता है, वही श्रेष्ठ है। समाधि के अनेक रहस्य हैं, उसके बारे में यहाँ उल्लेख नहीं कर रहा हूँ। समाधि का मुख्य उद्देश्य है—प्रज्ञा का उदय।

पूरक का अर्थ है—बाहर से वायु श्वास द्वारा भीतर ग्रहण करना। भीतरी वायु को भीतर से बाहर लाना—इसे रेचक कहते हैं। स्तम्भित रखना—इसका नाम कुम्भक है। यह बाहर हो सकता है और भीतर भी।

रेचक—रिक्त करना। पूरक—भर लेना। भीतरी हो चाहे बाहरी, स्तम्भित रखना—यही है कुम्भक। इसमें रहस्य है। रेचन और पूरक वाम या दक्षिण नासा के द्वारा हो, इसके लिए उपदेश सापेक्ष है। साधारण नियमानुसार एक नासा के द्वारा प्रवेश करा कर अन्य नासा के द्वारा बाहर निकालना पड़ता है। प्राणायाम में मात्रा की संख्या हर वक्त ध्यान में रखनी चाहिए। अभ्यास में परिपक्व हो जाने पर इसकी जरूरत नहीं होगी। यह तो केवल अभ्यास के वक्त के लिए है। ठीक ढंग से प्राणायाम कर सकने पर मलिनता दूर हो जाती है। प्रतिदिन की संचित मलिनता प्राणायाम के द्वारा शुद्ध करनी चाहिए।

१०

ध्यानयोग और प्रेम-साधना

स्थूल दृष्टि से योग दो प्रकार के होते हैं—क्रियायोग और समाधियोग। ध्यानयोग समाधियोग के अन्तर्गत है। क्रियायोग के तीन अंश हैं—तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। तपस्या का तात्पर्य संक्षेप में यों है—यथासम्भव सावधानता के साथ शरीर, मन प्रभृति को कष्ट सहने का अभ्यास करना चाहिए—इसका उद्देश्य यह है कि मन आदि को शुद्ध करना, ताकि वह अन्तर्मुखी होकर ध्यान-समाधि के योग्य हो सके। कष्ट सहना तपस्या के अंग हैं, यह तो ठीक है, किन्तु इतना अधिक कष्ट होना उचित नहीं है, जो शरीर के लिए असह्य हो। तपस्या के प्रभाव से शरीर-मन दोनों ही शुद्ध होते हैं। स्वाध्याय का अर्थ है—सद्ग्रन्थों का अध्ययन, विशेष रूप से गुरुदत्त क्षेत्र का जप करना। सभी मंत्र प्रणव से उद्भूत हैं, प्रणव ईश्वरवाचक है। इसे यथाविधि जप करते रहने पर ईश्वर से साक्षात्कार होता है। ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है—ईश्वर में चित्त लगाना। व्यावहारिक दृष्टि से इसके दो रूप हैं। प्रथम कर्तव्य-कर्म करना तथा उसका फल जगद्गुरुरूपी परमेश्वर को अर्पण कर देना। अधिकार प्राप्त कर लेने पर इसका स्वरूप बदल जाता है। इस समय ईश्वर-प्रणिधान का तात्पर्य यह होता है कि परमात्मा को कर्मफल अर्पण न कर स्वयं को अर्पण हो ज़ाता है—यही द्वितीय रूप में श्रेष्ठ क्रियायोग है। क्रियायोग प्रारम्भिक साधन है। इसके अभ्यास से चित्त अन्तर्मुख होता है तथा क्लेशों का पाक होता है।

ध्यानयोग और समाधियोग इसके ऊपर का स्तर है। समाधि ध्यान की परिपक्व अवस्था है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि समाधि होने पर योग नहीं होता अर्थात् समाधिमात्र योगपदवाच्य नहीं है। जब तक चित्त एकाग्र भूमि में प्रतिष्ठित नहीं होता तब तक समाधियोग अवस्था तक पहुँचा नहीं जा सकता। क्षिप्त, विक्षिप्त एवं मूढ़ भूमि में समाधि का आध्यात्मिक उपयोग नहीं होता। इसका कारण यह है कि इन भूमियों में रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानता रहती है। विक्षिप्त भूमि में अति सामान्य सत्त्वगुण जरूर रहता है, पर वह योग के उपयुक्त नहीं है। चित्त

की भूमि जब एकाग्र रहती है तब अगर वृत्ति भी एकाग्र हो जाय तो उस अवस्था को योग की संज्ञा दी जा सकती है। वृत्ति की एकाग्रता नाना प्रकार से हो सकती है। अमेरिका आदि देशों में दवा के माध्यम से चित्त को एकाग्र करने की व्यवस्था की गयी है। गाँजा, भाँग सेवन करने पर चित्तवृत्ति शून्य और स्तब्ध हो जाती है। द्रव्य गुण से आकस्मिक रूप में वृत्ति एकाग्र हो जाती है। लेकिन यह योग नहीं है, क्योंकि भूमि में एकाग्रता नहीं है। योग की प्राप्ति के पूर्व अयोग अथवा पृथकत्व एवं बाद में वियोगजन्य आकुलता का अनुभव अनिवार्य है। तांत्रिक साधना में नियोजित भूमि की एकाग्रता केवल कुयोग है—योग नहीं। इसका कारण यह है कि उस स्थिति में एकाग्रता की प्राप्ति न होकर द्रवीभूतमात्र होता है। इस दशा में अवस्था-बोध न रहने पर सर्वव्यापक होने पर भी परमतत्त्व से साक्षात्कार नहीं होता। इसके लिए आधार की शुद्धता आवश्यक है। क्रियायोग के द्वारा क्लेश आदि संस्कार के 'तनूकरण' अर्थात् क्षीणकरण या पाक होता है। इसके बाद प्रसंख्यात योगलब्ध ज्ञान से क्लेश दग्ध हो जाता है। क्रियायोग का लक्ष्य पूर्ण न होने तक समाधियोग का पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं होता है।

●

११

शतभेदी कर्म

शतभेदी कर्म क्या है और क्यों है, इस प्रश्न के उत्तर में बाबा ने कहा—शतभेदी किसी ने नहीं किया है। जो मुक्त हो जाता है, वह भी शत में है। शतभेदी होने पर क्या होगा ? एक होगा रियल—यह एक होगा। शतभेदी बिना किये एक तो होगा नहीं। एक किसमें से होगा ? मूलतत्त्व से एक नहीं होगा। एक प्रकार से व्याज कहा जा सकता है। जैसे मेरे रुपये मूलधन है—इसके बाद जो शेष है, वही। वही एक चीज है। अन्यथा यह सब कुछ नहीं है। जन्म ले रहे हो, देहावसान हो रहा है और ब्रह्मस्वरूप में समाहित हो रहे हो। ऐसा तो अनन्तकाल से हो रहा है, लाखों-करोड़ों वर्षों से ऐसा हो रहा है। शत के भीतर ही है यह सब। लोक और परलोक को छोड़कर तुम्हारे पास क्या है ? दस जन्म हो, बीस जन्म हो, बीस हजार जन्म हो, लक्षकोटि जन्म हो—यह परलोक ५० के भीतर है और यह लोक ५० के भीतर है—इस प्रकार शत हुआ। दूसरी ओर शतभेदी होने पर और आवश्यकता होती है— १०१, १०२, १०३, इस प्रकार। यह कहाँ तक जायगा ? पहले १०५ तक जायगा। जब तक तुम समष्टि नहीं पा रहे हो तब तक १०५ ही सबसे उच्च है। १०५ है क्या ? योगी—श्रेष्ठ योगी की अवस्था। यही महाज्ञान पूर्वावस्था है। महाज्ञान के पूर्व तक जो लोग श्रेष्ठ योगी इस संसार में हुए हैं, वे १०५ में ही। जो लोग १०४ हैं, वे श्रेष्ठ साधक हैं, वह पूर्णतर सिद्ध-अवस्था है। १०३ आदि त्रिकोण होता है। १०१ से १०३ से वह त्रिकोण तैयार होता है। इसमें अनेक बातें हैं, जिसे बाद में बताऊँगा। १०३ हुआ, १०३ से १०४ हुआ—१०४ में न जाने कितने सिद्ध पुरुष हो गये हैं। सम्भवत: करोड़ों लोगों को महाज्ञान प्राप्त हुआ है—१०५ के भीतर। लेकिन इसके आगे कोई जा नहीं सका। शतभेदी के भीतर इतना हो गया है। १०३, १०४, १०५ हुआ है। १०३ से त्रिकोण तैयार हुआ—इसके बाद १०४ में सभी की अवस्था हुई और १०५ में महायोगी। इस महायोगी की उपेक्षा करते हुए चले गये—१०६ में। यहाँ हुआ—महाज्ञान। यही हुआ—१०६ महाज्ञान। इसके पूर्व जो था, वह खण्डज्ञान था, फिर भी वह महायोगी है। ऐसी

ग़लत में इसे महायोग नहीं कहा जा सकता। महायोग अवश्य है, किन्तु अखण्ड-अखण्ड महायोग। महायोग तो १०५ में ही हो जाता है, पर अखण्ड महायोग नहीं होता। अखण्ड होने के लिए महाज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वह है—१०६। महाज्ञान पाने के बाद क्या होता है ? कौन सा परिवर्तन होता है ? महाज्ञान होने पर त्रिकोण (त्रिकोणशक्ति) के भीतर मण्डल आ जाता है। आगे हुआ है इसलिए यह महाज्ञान हुआ। जिन्हें महाज्ञान नहीं हुआ है—महायोगी कहा है १०५—उसमें यह चीज नहीं हुई है। महाज्ञान किसे कहते हैं ? तुम्हारे पास जो कुछ है, उन सबको लेकर जो ज्ञान है, वही महाज्ञान है। जहाँ महायोग कहा १०५, इसमें सब नहीं आता। सब कुछ लेकर उसे नहीं किया जाता। तीन शक्तियों की लीलाएँ हैं। एक है श्यामा माँ, एक है उमा माँ, एक है आदि माँ—इन्हीं तीनों शक्तियों की माया है। इन तीनों शक्तियों की माया में वे क्या करती हैं ? त्रिकोण का जो महात्रय है, उसे प्रतिष्ठित करती हैं। श्यामा माँ आदि अवस्था है। इसके बाद उमा माँ द्वितीय अवस्था है और तृतीय अवस्था है आदि माँ। श्यामा माँ, उमा माँ, आदि माँ—ये तीनों माताएँ—शक्तित्रय—महाशक्तित्रय—तीनों का अवस्थान शतभेदी में है। तब क्या मिलेगा ? तब मिलेगी १०५ में से १०६ होकर १०७ मिलेगा। १०७ में क्या मिला ? १०६ में महाज्ञान पा रहे हो, महाज्ञान में जाकर कालसमुद्र को पार करना पड़ेगा। कालसमुद्र पार कर लेने पर क्या होगा ? १०३ में जो त्रिकोण था; इस वक्त वह नहीं है। शक्ति किस स्थिति में है ? १०६ में क्या था ? १०६ में ऊर्ध्वमुख त्रिकोण भीतर मंडलाकार था। ऐसा कैसे हुआ ? महाज्ञान के बाद है इसलिए। महाज्ञान जो है वह १०५ के बाद है, १०६ जो है वह आगे है इसलिए ऐसा हुआ। अर्थात् भीतर मण्डल मिला। त्रिकोण ऊर्ध्वमुख में है। यहाँ तक तो कालजगत् है, इसके बाद कालसमुद्र है। नदी, जैसे ब्रिटिश चैनल है—इस पार फ्रांस और उस पार इंग्लैण्ड है। इसके बाद यहाँ क्या प्राप्त होता है ? वे उस पार हैं इसका आभास मिलता है, वास्तविक रूप में पाया नहीं जा सकता। जब तक तुम काल को भेद नहीं कर लेते। जब हम लोग अखण्ड महायोग का कर्म कर रहे हैं तब शायद वह पार दिखाई देता—वही आनन्द राज्य है—सभी चीजों के ऊपर है। बीच में समुद्र है—समुद्र के उस पार स्थित वह चीज दिखाई दे रही है। समुद्र के माने काल, कालसमुद्र—अभी काल को पार नहीं किया गया है। जब काल को पार कर लिया जाता है तब इसका उल्टा हो जाता है। त्रिकोण के भीतर मण्डलाकार है और वह है मण्डलाकार के भीतरवाला त्रिकोण। उस वक्त मण्डलाकार ही मुख्य चीज है जब कि त्रिकोण है। इस त्रिकोण को हटाना पड़ेगा। मण्डलाकार बाहर मौजूद है और वही गाइड कर रहा है—यह त्रिकोण जायगा किधर ? मण्डलाकार में। बाद में वह क्या बनेगा ? चतुष्कोण बनेगा। वहाँ चतुरस्त्र है। इसके बाद पंचकोण बनेगा। इसके बाद षट्कोण होगा, अष्टकोण होगा, अनन्तकोण होगा। जब अनन्तकोण होगा तब

वही आठ होगा। इसके बाद कोण नहीं रहेगा। इसी वक्त अखण्ड महायोग होगा। तीन बातें एक साथ हो गयीं। १०५ जो था, उसमें अखण्ड नहीं था। इसके बाद अब अखण्ड हुआ, महा हुआ एवं योग भी हुआ—तीनों बातें हुईं। यह कौन है? कौन जा रहा है? जो जा रहा है—कहावत है कि व्याज जा रहा है—उसी में से आ रहा है। मैंने १०० रुपये कर्ज दिये, उसका व्याज १०० रुपये से अधिक है। कारण, वह मूल भेद करता जा रहा है। मूल तो मेरा १००—इधर था ५०, इसके बाद मृत्यु के पश्चात् ५०—एक साथ निकल गये तुम—१०० का भेद हो गया—लोक और परलोक का भेद हो गया। इसके बाद जो बना, वह हुआ व्याज। इस व्याज के भीतर जो त्रिकोण है उसका भेद हुआ। इसके बाद योग की जो स्थिति है १०५, उसका भी भेद हो गया। बाद में असली महाज्ञान आया—जिसमें सभी अन्तर्भूत है—कोई छूटेगा नहीं। महाज्ञान के आने पर सब आ जाता है। असली महाज्ञान में हमें क्या मिलता है? त्रिकोण के भीतर मण्डल आ गया। जब मण्डल आ गया तब कालसमुद्र के सामने वह है—काल की चीज, अब उस पार जा नहीं सकेंगे। इस पार से नहीं होता, उस पार जाना पड़ता है। जब उस पार पहुँच जाओगे तब क्या होगा? उस पार क्या मिलेगा? मण्डल के भीतर त्रिकोण, पहले त्रिकोण के भीतर मण्डल था, इस वक्त मण्डल के भीतर त्रिकोण आ गया—यह प्रक्रिया आरम्भ होने पर शाश्वत भाव से माने मण्डल के भीतर अनन्तकोण है। त्रिकोण, चतुष्कोण, पंचकोण, दशकोण, इस प्रकार अनन्त कोण हो सकता है। वही होगा आठ—चारों ओर से कटा हुआ। इसके बाद कोण नहीं रहेगा। शिवशक्ति सामरस्य—समरस बन गया। कोण नहीं है और न रहेगा। वह है एक। कौन है? कौन पा रहा है? लक्ष्य किया है? जीव ही है तो? १०६ से १०७ में जाता है, पार न हो सकने पर एक को तुम पाओगे कहाँ? एक को नहीं पा सकते। वह जीव ही है। इसका अर्थ यह है कि यही सर्वोच्चसिद्धि है जो जीव में होगा। वहाँ और कुछ नहीं रहेगा। इसी को अखण्ड महायोग कहते हैं। अखण्ड महायोग किसी का होता है और किसी का नहीं होता है—ऐसा नहीं होता। क्यों? अखण्ड चीज सबको लेकर होगा। मुझे प्राप्त हुआ, मुझे माने सब। मैं समस्त मानवता का प्रतिनिधित्व करता हूँ। समस्त। लक्ष-लक्ष, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में जहाँ जो कुछ है, सबको लेकर मै हूँ। वह चीज एक हो जायगा। जब तक नहीं होगा तब तक कोण बना रहेगा। क्रमशः सर्किल की ओर बढ़ रहा है, पर कोण है। इसके बाद जब अनन्त में गया तब कोण गायब हो गया। इस अखण्ड महायोग का जो कृपा-शून्य कर्म है, वह समाप्त हो गया। जब कृपा-शून्य कर्म समाप्त हो गया तब गुरु स्वयं आकर आलिंगन करते हैं। इस समय गुरु शिष्य को आलिंगन में बाँध लेते हैं। इस वक्त पूर्णता आ जाती है। गुरु शिष्य को कहते हैं कि अब तुम पूर्ण हो। अर्थात् भगवान् भक्त को सिर पर बैठा लेते हैं। १०६ में त्रिकोण नहीं है, पर १०८ में कोण है—

अनन्त कोण। अनन्त शक्ति का विकास हो गया। शिवशक्ति का सामरस्य—समरस। भविष्य में जगत् में जो परिवर्तन होंगे, यही वह है। अरविन्द ने यही कहा है, पर उनकी परिभाषा दूसरे ढंग की है। इसके बाद भी काफी चीज रहती है—१०६ हो गया। १०६ के बाद भी और है—यह है कृपाशून्य कर्म—कृपा नहीं रहती—कृपा रहने पर यहाँ नहीं जा सकते। कृपाशून्य और कृपा में काफी कमी है। जब मनुष्य तैरता है, जब तैराकी प्रतियोगिता होती है तब उसके साथ-साथ एक नाव चलती है। जब नहीं तैर पाता, तब उसे नाव पर चढ़ा लेते हैं। इस प्रकार उसकी आत्मरक्षा हो जाती है, जब कि पूर्णता नहीं आई। यह भी उसी प्रकार का कृपाशून्य कर्म है। कृपाशून्य कर्म का अर्थ जानते हो ? अखण्डता को प्राप्त करने के लिए अपने ऊपर निर्भर रहना होगा। कृपाशून्य का यही अर्थ है। तभी महाकृपा आयेगी वरना खण्डकृपा से जगत् का जो हाल है, देख रहे हो। इससे जगत् में परिवर्तन नहीं होगा। खण्डकृपा से परिवर्तन नहीं हो सकता। अनन्तकृपा होने पर ही अनन्त त्रिकोण होता है। इसके बाद त्रिकोण नहीं रहता। इसी समय गुरु आलिंगन करते हैं। इन्हीं दिनों शिष्य भी गुरु के समीप जाने का प्रयत्न करता है। इस वक्त गुरु अपने को समर्पण करता है। समर्पण करते ही शिष्य गुरुत्व में आ जाता है। अगर यह कर्म प्राचीनकाल की व्यवस्था के अनुसार होता है तो बात ही अलग है। मैंने तुम्हें केवल आभासमात्र दिया।

●

१२

आत्मा की पूर्ण स्थिति तथा पूर्ण स्वरूप-प्राप्ति के उपाय

आत्मा का स्वरूप स्वतंत्र रूप में अखण्ड का महाप्रकाश है। इसे प्राप्त करने के लिए पहले निराकार निर्गुण स्वरूप ग्रहण करना चाहिए, इसके बाद साकार, सगुण। निराकार स्वरूप विश्वातीत और साकार विश्वात्मक है। इन दोनों स्वरूपों की प्राप्ति के बाद परम स्वरूप से साक्षात्कार होता है, जहाँ साकार-निराकार, सकल-निष्कल, सगुण-निर्गुण, सविशेष-निर्विशेष आदि द्वन्द्वों का समाधान हो जाता है। इसके बाद योग का मार्ग खुल जाता है। योग में क्रमशः सिद्ध अर्थात् सायुज्य में प्रतिष्ठित होने के बाद उसके ऊर्ध्व में अद्वय अवस्था का आविर्भाव होता है।

इस दृष्टि से सर्वप्रथम विश्व को भेद करना पड़ता है। इसकी प्राप्ति दक्षिणावर्त परिक्रमा से होती है। योगी आत्मा के सम्मुख दृष्टि रखते हुए, धीरे-धीरे स्वीय ज्ञानशक्ति को निर्मल करते-करते अग्रसर होते हैं। ज्ञान जब तक मलिन रहता है तब तक ज्ञेय का भान होता है। ज्ञान के निर्मल होते ही ज्ञेय का तिरोधान हो जाता है। सबके अन्त में ज्ञान परिपूर्ण रूप में स्वच्छ होने के बाद बाहर से ज्ञेय का भान नहीं होता। योगिराज पतंजलि ने इस बारे में कहा है—''ज्ञानस्य आनन्त्याद् ज्ञेयमल्पम्।'' —अर्थात् ज्ञान के अनन्त होने, पूर्ण स्वच्छ तथा निर्मल होने के बाद विश्वरूप में भासमान 'ज्ञेय' तिरोहित हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि योगमार्ग की प्रारंभिक स्थिति में ऊर्ध्व गति के साथ-साथ ज्ञान जिस प्रकार निर्मल हो जाता है, ठीक उतना ही ज्ञेय के साथ एकाकार हो जाता है। विश्व क्रमशः आकाररहित हो जाता है और निराकार आत्मसत्ता में तादात्म्य प्राप्त करता है। इसे 'विश्वभेद' कहते हैं।

व्यष्टि और समष्टि के आकारों को लेकर विश्व तैयार हुआ है। विकास के अनुसार यह भासमान होता है। किन्तु अग्रगति से योगी का ज्ञान निर्मल होने के

प्रभाव से साकार विश्व ज्ञानरूप में आभासमान होता है और अन्त में निराकार आत्मसत्ता में पर्यवसित हो जाता है। इसी समय ज्ञाता आत्मा ज्ञेयरूप में अपने को पाता है अर्थात् ज्ञाता स्वयं निराकार रूप में ज्ञेय हो जाता है।

अनेक साधक इस निराकार आत्मदर्शन को साधना का परम लक्ष्य समझते हैं और यहीं रुक जाते हैं, किन्तु यह आत्मा का 'पृष्ठ-दर्शन' मात्र है। यह दक्षिणावर्त गति का चरम निष्कर्ष है, साधना की अनुलोम गति।

सद्गुरु की कृपा रहने पर योगी यहाँ न ठहरकर वामावर्त गति से चलना प्रारंभ कर देते हैं और तब अपने स्वरूप के पास पहुँचते हैं। इस विलोम गति की दो संज्ञाएँ हैं। दक्षिणावर्त में ज्ञेयरूपी जो विश्व ज्ञान में लय हो गया था, उसका पुनरुत्थान होता है। स्मरण रखना होगा कि पुनरुत्थान चिन्मय स्वरूप में होता है। पहले-पहल विश्व मायिक-अचित् अर्थात् जड़भावापन्न था। विलोम गति न होने पर जड़ विश्व की निवृत्ति होकर निराकार आत्मस्वरूप में रह जाता है। गुरु-कृपा से पुनर्गति प्राप्त होने पर अस्तगत विश्व का पुनरुद्धार होता है। लेकिन यह जड़ न होकर चिन्मय होता है। लय होने का मार्ग समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में समस्त अस्तगत विश्व का क्रमशः पुनरुद्धार होता है। अन्त में जब समस्त विश्व का चिन्मय रूप, रंगों का पुनरुत्थान होता है तब विश्वात्मक आत्मस्वरूप का दर्शन होता है। यही आत्मा का 'सम्मुख-दर्शन' है। यही सभी विश्वात्मक आत्मा का साकार दर्शन है। पहले आत्मा को हम निराकार रूप में पाते हैं, उस समय विश्व भी निराकार था। अब आत्मा को नित्य साकार रूप में पा रहे हैं। इन दोनों में परस्पर नितान्त भिन्न है, एक है अनुलोम गति का फल, आत्मा का पृष्ठरूप एवं दूसरा है विलोम गति का फल—आत्मा का सम्मुख रूप।

ये दोनों स्वरूप एक ही आत्मा के अखण्ड स्वरूप के अन्तर्गत हैं, जिनका दर्शन सरल गति के अनुसार मिलता है। इस समय गति का आवर्तन नहीं रहता। न दक्षिणावर्त और न वामावर्त। गति का आवर्तन न रहने पर सरलगति प्रकट होती है। इसमें केन्द्रस्थ बिन्दु का अखण्ड रूप में दर्शन होता है। जैसे योगमार्ग में इड़ा-पिंगला की आवर्तगति तथा मध्यस्थित सुषुम्ना की सरल गति, जिसमें आत्मा का पूर्ण रूप से साक्षात् होता है। इसमें साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण आदि द्वन्द्वों का क्षोभ नहीं रहता। इस प्रकार संरल गति से पूर्ण सत्ता के दर्शन तो होते हैं, किन्तु प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि द्रष्टा एवं दृश्य, उपासक एवं उपास्य के मध्य उस समय तक व्यवधान रहता है। वक्रगति की निवृत्ति से पूर्ण सत्ता के साक्षात्कार की बाधा निवृत्त हो जाती है। जब तक इस व्यवधान का अपसरण नहीं होता तब तक दोनों का योग स्थापित होना सम्भव नहीं होता। पूर्ण स्वरूप का अनिमेष रूप में निरन्तर दर्शन करते-करते यह व्यवधान भी समाप्त हो जाता है तब पूर्ण आत्मस्वरूप के साथ आत्मा के योग की सूचना मिलती है। उपासक और उपास्य में योग होना

प्रारम्भ हो जाता है। इसके बाद योग-प्रक्रिया गहरी होने पर उपासक उपास्य में अनुप्रविष्ट होता है एवं उपास्य उपासक में। उस समय दो समरस प्राप्त होते हैं। इस बारे में शास्त्र में लिखा है— ''शिवस्य अभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः'' —यही समरसता है। शिव कहने पर दो शिव, शक्ति कहने पर दो शक्तियाँ। इस सामरस्य को पुराणकारों ने सायुज्य कहा है। यही योग की पराकाष्ठा है। इसके बाद सामरस्य भी नहीं रहता। इसमें अतिक्रम होता है, यही आत्मा की पूर्ण स्थितिं है। यहाँ सब कुछ है, पर कुछ भी नहीं है। इस स्थिति को लक्ष्य करके गीता में कहा गया है— ''यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'' इसमें परिपक्वता प्राप्त कर लेने पर आत्मा अचल हो जाती है।

●

१३

आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व

आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व स्वरूपतः अभिन्न हैं। जिस प्रकार अग्नि में दाहिकाशक्ति है, उसी प्रकार आत्मा में भी स्वरूपभूत आत्मशक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् या शक्ति का आश्रय वास्तव में अभिन्न हैं। जिस प्रकार आत्मा स्वरूपतः एक है, उसी प्रकार शक्ति भी स्वरूपतः एक है। आत्मा का स्वभाव जो है, उसकी शक्ति का स्वभाव भी वही है। वास्तव में शक्ति के द्वारा ही आत्मा का प्रकाश होता है। आत्मा को स्वप्रकाश कहा गया है। इसका कारण यह है कि आत्मा अपने प्रकाश से स्वतः ही प्रकाशमान है। बाह्य प्रकाश उसे स्पर्श नहीं कर पाता। जड़ वस्तु निरपेक्ष रूप में प्रकाशित नहीं हो पाती, इसीलिए उसके प्रकाश तद्भिन्न अन्य किसी प्रकाश की अपेक्षा रहती है। वह स्वतंत्र नहीं है, पर आत्मा स्वतंत्र है। आत्मा चित्स्वरूप है। इसीलिए उनकी शक्ति को चित्शक्ति कहा जाता है। यह नामकरण केवल तत्त्व को समझाने के लिए कहा गया।

इस चित्शक्ति का अपरनाम है परावाक्। गोकि यह अद्वैत-दृष्टि की बात है। द्वैत-दृष्टि में जरा अन्तर है। आवश्यक होने पर फिर कभी बताऊँगा। आचार्यों ने परावाक् को स्वातंत्र्य-शक्ति या स्वभाव कहा है। अगर आत्मा को परमब्रह्म समझा जाय तो इस परावाक् को शब्दब्रह्म कहा जा सकता है। सृष्टि के प्रारम्भ में इसी महाशक्ति से विश्व का स्फुरण होता है। आत्मा भी इसी महाशक्ति में अभिन्न होकर समरस रूप में मौजूद है। यही आत्मा का परम शिवत्व या परमेश्वरत्व है। सामरस्य रहने के कारण ही आत्मा में मैं बोध जागरूक रहता है। यह खण्ड है मैं का रूप नहीं, जो अनात्मा में आत्मभ्रमवश उदित होता है तथा जो अवस्था-भेद के अनुसार अस्मिता, अहंकार आदि के रूपों में प्रकट होता है। यही अखण्ड है, अप्रतिद्वन्द्वी, अप्रतियोगी विराट् मैं है जो मैं सब कुछ हूँ, उसी मैं की जड़ है। एकमात्र यही मैं हूँ। इसका प्रतियोगी द्वितीय सत्ता नहीं है। "एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।" इसी अपरिच्छिन्न अहन्ता के कारण ही आत्मा वास्तव में महेश्वर है। परिपूर्ण अहन्ता ही परावाक् या आत्मा की स्वातंत्र्य-रूपा-महाशक्ति है।

स्वतंत्रता के कारण जब आत्मा अपने को संकुचित कर लीला या अभिनय के द्वारा अणु बनती है, उस वक्त यह महाशक्ति विभक्त होकर विचित्र खण्ड-शक्तिरूप में परिणत हो जाती है। इन शक्तियों का स्तर-भेद के अनुसार नाना प्रकार के नाम और कार्य हैं। अनन्त शक्ति अनन्त प्रकार। मूल में शक्ति शब्दात्मक है, इसीलिए सभी खण्ड शक्तियाँ मूलतः ध्वनिरूप या वर्णात्मक हैं। पहले परनाद, फिर महानाद आदि विभिन्न अवस्थाओं में से वर्णरूप या मातृकारूप में उक्त शक्ति का अवतरण होता है। आत्मा या शिव जब अणु बनकर, महामाया के आवरण से आवृत्त होकर मातृगर्भ में प्रवेश करता है, उस वक्त सभी वर्णरूपा शक्ति मूल मायाशक्ति की किरण बनाकर चित्-अनुरूपी आत्मा को मोहित करती हैं और नाना प्रकार के विकल्प-जाल में फँसा लेती हैं। वर्णों का समूह विभिन्न समष्टि में सम्मिलित होकर नाना प्रकार के भाव या वृत्ति का उत्पादन करते हैं। इन्हें हम वासना, कर्म-संस्कार, अविद्याबीज, विक्षेपरेणु आदि कहते हैं। अत्यन्त उच्चकोटि के योगी के अलावा अन्य कोई इनके स्वरूपों को समझ नहीं पाता। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ, भक्ति, प्रेम, क्षमा आदि भाव या वृत्ति वास्तव में वर्णसमूह के सामूहिक क्रिया से चित्त में उद्भूत होता है। चित्त के चंचल होने का यही कारण है। लय, विक्षेप आदि स्थिति में सभी मातृकाएँ कारण बन जाती हैं। यही वजह है कि मनुष्यमात्र विकल्प के अधीन होता है, निर्विकल्प ज्ञान लाभ करना कठिन होता है। विकल्प की शुद्धि के बिना ज्ञान की निर्मलता का सम्पादन असम्भव है।

सृष्टि की धारा में परावाक् से पश्यन्ती, इसके बाद मध्यमा वाक् का आविर्भाव होता है। सबके अन्त में वैखरी वाक् प्रकट होती है। हम लोग जिस वाक् का प्रयोग करते हैं, जो मुँह से उच्चारित होता है, जो कण्ठ-तालु आदि स्थानों से वायु के द्वारा संघर्ष उत्पन्न करता है, वही वैखरी वाक् है। इन्द्रियगोचर स्थूल पदार्थों का आविर्भाव और वैखरी वाक् का उदय समकालीन है। शब्द और अर्थ या वाक् और अर्थ परस्पर संसृष्ट होते हैं। पदार्थ जब इन्द्रियग्राह्य होता है तभी वाक् वैखरी होता है। समस्त विश्व वैखरी वाक् के स्तरों में विद्यमान है। योग-शक्ति के प्रभाव से हम लोगों को वैखरी के स्तर से उठकर मध्यमा के स्तर में प्रवेश करना पड़ता है, पर चित्शक्ति के उन्मेष हुए बिना मध्यमा के स्तर में प्रवेश करना कठिन होता है।

गुरु-शक्ति के प्रभाव से अथवा तीव्र अभ्यास के कारण वैखरी शब्द क्रमशः संस्कृत या शोधित होता है। हम लोग जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, वह मलिन होता है, उसमें आगन्तुक मल विद्यमान रहता है। जब तक यह मल दूर नहीं होता तब तक मध्यमा में प्रवेश नहीं किया जा सकता। शब्दों के पुनः-पुनः आवर्तन के फलस्वरूप धीरे-धीरे शब्दगत मल क्षीण होता है। उस वक्त श्वास वायु इड़ा-पिंगला के बीच से हटकर सुषुम्ना में प्रवेश करता है। सुषुम्ना मध्यमार्ग है,

निर्विकल्प ज्ञान की ओर जाने का राजमार्ग। पर यह गुप्त मार्ग है। यह मार्ग नीचे की ओर काफी निरुद्ध है। अगर ऐसा न होता तो साधारण मानव जागतिक या व्यावहारिक कार्य न कर पाता। ऐसा न कर पाने पर कर्म के द्वारा कर्मक्षय का सौकर्य न होता। कर्म देह की सार्थकता तथा प्रारब्ध कर्मफल के भोग के लिए, सुषुम्ना को ढँककर रखने की प्रक्रिया प्रकृति की एक चाल मात्र है। योगी इस चाल को समझ लेता है और कौशल से ढँकने को खोल लेता है। जप-साधना इस कौशल का एक प्रकार का भेद है। वैखरी में जप करते-करते (यथाविधि) क्रमशः कण्ठरोध हो जाता है, इधर सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है तब वायु और मन सूक्ष्म होकर सुषुम्ना के मार्ग में प्रविष्ट होता है। साथ ही नाद का अभ्युत्थान होता है।

नाद का उदय होना ही मंत्र-चैतन्य का पूर्वाभास है। वर्ण गलकर नादरूप में प्रवाहित होता रहता है। यदि ऐसा न हो तो बीच ही में ऊर्ध्व की ओर उत्थित होना मन के लिए सहज न होता। यह सच है कि ध्यान के मार्ग में उत्थान हो सकता है। पर नादविरहित ध्यान कष्टसाध्य होता है और अधिकतर अनुरूप फल प्राप्त नहीं होता। (श्री अलोक कुमार मित्र को लिखे गये पत्र का एक अंश)



१४

मानव-जीवन की पूर्णता

'मानव-जीवन दुर्लभ है'—इस कथन को संसार के सभी धर्मसम्प्रदायवालों ने समवेत कण्ठ से कहा है। कवि चण्डीदास ने कहा है—'सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपरे नाई।' (सबके ऊपर मनुष्य है, उसके ऊपर अन्य कुछ नहीं।) प्रकृति के क्रमविकास के अनुसार चौरासी लाख स्थावर तथा जंगम देहभेद करने के बाद मनुष्य-तन प्राप्त होता है। इन चौरासी लाख में अन्नमय तथा प्राणमय कोषों का विकास सम्पन्न होता है। मनोमय कोषों की रचना तथा मानव-देह की सूचना, प्रकृति के नियमानुसार एक ही साथ अभिन्न रूप में सम्पन्न होती है। यद्यपि मनोमय देह का पूर्वाभास मनुष्य-तन या योनि प्राप्त होने के पूर्व ही होता है, तथापि यथार्थ मनोमय कोषों का आविर्भाव पशु-अवस्था में कभी सम्भव नहीं होता। मानव-देह के आविर्भाव के साथ-साथ प्रकृति के नियमानुसार मन का आविर्भाव होता है। प्राणमय कोषों के विकास की चरम दशा में मन की सत्ता का पूर्वाभास अवश्य प्राप्त हो जाता है। किन्तु यह यथार्थ मन नहीं है। प्राण की मनोन्मुख अवस्थामात्र है। यथार्थ मन विवेक और विचारधर्मी होता है। यही विवेक एवं विचार-शक्ति का प्रभाव प्राथमिक स्तर में अधिक दिखाई देता है। फिर भी इसे मनोमय स्तर का निम्न रूप ही कहा जायगा। योगियों ने जिसे षट्चक्र-संस्थान कहा है और जिसे भेदकर विज्ञानमय कोषों में प्रवेश करना मानव-जीवन का प्राथमिक उद्देश्य माना गया है—यह एकमात्र मानव-शरीर में ही इसका अस्तित्व हो सकता है, अन्य शरीर में नहीं।

पहली स्थिति में आकृति से मनुष्य प्रतीत होने पर भी वह प्रकृति से पशु होता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि मन को पाकर भी वह प्राण के नियंत्रण से मुक्त नहीं कर पाता। वासना, कामना, संस्कार तथा नाना प्रकार की अवचेतन शक्तियों का प्रवाह—यहाँ तक कि चेतन-शक्ति का प्रवाह भी प्राणमय कोष की प्रधानता के कारण होता है। प्रचलित भाषा में चित्शुद्धि का अभाव इसमें दिखाई देता है। जन्म-जन्मान्तर के सभी संस्कार इसी अवचेतन शक्तिवर्ग के अन्तर्गत हैं।

इस संस्कार के मूल में इन्द्रियों की अतृप्त कामनाएँ तथा वासनाएँ हैं। इन सभी वासना-समष्टि को काम अथवा आत्मेन्द्रिय-तृप्ति कहा जा सकता है। सबसे पहले इन कामनामूलक संस्कार से चित्त को शुद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए विभिन्न प्रकार के अवलम्बनों का सहारा लिया जा सकता है, लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि कर्म-त्याग इसका उपाय नहीं है। कामना का त्याग भी उपाय नहीं है, क्योंकि यह सब करना मनुष्य के लिए असम्भव है। इसका एकमात्र उपाय है—कर्म करना। साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि कर्म के साथ अपने व्यक्तिगत स्वार्थ या कामना से सम्बन्धित किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं रहेगा। अपने को छोड़कर विश्व के लिए जो कामना होगी, वह कामना पदवाच्य नहीं होगी। इसका नाम निष्काम कर्म है। अपना व्यक्तिगत स्वार्थ तृप्त करना दूषणीय है। योगस्थ रहते हुए व्यक्तिगत सफलता एवं निष्फलता के बारे में ध्यान न देकर कर्त्तव्य-बोध के अनुसार कार्य करने पर चित्त शुद्ध होता है। यही चित्त-शुद्धि का सबसे सही उपाय है। चित्त-शुद्धि के बाद कर्म का बन्धन पूर्ण रूप से दूर न होने पर भी वह शिथिल हो जाता है। चित्त-शुद्धि कुछ मात्रा में प्रकृष्ट रूप से सम्पन्न होने पर उसके प्रभाव से भूत-शुद्धि शुरू हो जाती है। इसी समय अभिन्न प्रकार अवचेतन जड़स्तर से अपनी चित्-सत्ता को पृथक् रूप में अनुभव किया जा सकता है। विषयात्मक जड़ जगत्, इन्द्रिय-वर्ग, प्राण, मन, अहंकार, बुद्धि आदि से चित्-सत्ता को अलग देखा जा सकता है। यही चित्-सत्ता ही आत्मसत्ता है। अचित् के सम्बन्ध से मुक्त होते ही ब्रह्म-सत्ता प्राप्त होती है।

इस अवस्था में अविशेष भाव उदय होता है। जिन साधकों को साक्षात् या असाक्षात् परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त नहीं होता, वे लोग इस अखण्ड चित्-सत्ता को आत्मस्वरूप ब्रह्म-सत्ता के रूप में अनुभव करते हैं तथा एकाकार हो जाते हैं। परमेश्वर की विशेष अनुग्रहमूलक परमपद-प्राप्ति जब तक नहीं होती तब तक पूर्वोक्त ब्रह्म ही ज्ञान-मार्ग में ब्रह्म-जिज्ञासुओं के लिए प्राप्य है। इस मार्ग में अचित् या जड़ सम्बन्ध से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध चिद्रूप ग्रहण करता है और फिर ब्रह्मस्वरूप में लीन हो जाता है।

जिनके ऊपर भगवान् की विशेष कृपा रहती है, वे ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करते हैं। इसके बाद स्वरूपशक्ति तथा चित्शक्ति प्राप्त करते हैं। उस वक्त अपने को केवल ब्रह्मरूप में ही नहीं, बल्कि चिद्रूपा स्वरूपशक्ति के क्रमिक विवर्त्तन के प्रभाव से विश्वात्मक रूप में भी अनुभव करते हैं।

ब्रह्मभाव विश्वातीत है, किन्तु चित् शक्ति-प्राप्ति के बाद तथाकथित चैतन्य-शक्ति के द्वारा तथाकथित अचित्-सत्ता का चिन्मयत्व सम्पादनरूप क्रमशः विवर्तन होता है। यही प्रेम का मार्ग है, जिसमें समस्त विश्व अपना रूप परिग्रह करता है। इसकी सभी अवस्थाएँ विश्वात्मक हैं। चित्शक्तिसन्धिनी, संवित् तथा

ह्लादिनी रूपों में पृथक् अनुभव होने पर भी उसकी जड़ में एक ही शक्ति रहती है। इसका प्रधान कार्य है—अचित्-सत्ता को चिद्रूप में तथा निरानन्द दुःखमयी सत्ता को आनन्दरूप में परिवर्तित करना। यह परिवर्तन सर्वप्रथम सत्ता-अंश में सम्पन्न होता है, इसीलिए चित्सत्ता सम्बलित ब्रह्मसत्ता के प्रथम साक्षात्कार के बाद महाशून्य दूर हो जाता है और महाकाश के वक्ष पर अखण्ड अनन्त सत्ता नित्यसिद्ध विश्वरूप में प्रतीतिगोचर होती है। यह विश्व परिणामशील काल के अधीन नहीं है। इसमें अतीत, अनागत एवं वर्तमान के रूप में कोई आवर्त नहीं है। इसमें खण्डकाल नहीं रहता तथा वह महाकाल के रूप में आभासित होता है। इस प्रकार इसमें खण्डदेश न रहने के कारण किसी प्रकार दिक्बन्धन नहीं रहता। एक ही बिन्दु में सभी देश और काल की सत्ता विद्यमान रहती है। अभी तक इस आत्मस्वरूप में अंशअंशिभाव का स्फुरण नहीं हुआ है। जब शक्ति का विकास अधिक मात्रा में स्पष्ट होता है तब निरंश आत्मसत्ता में तथा निष्कल ब्रह्मसत्ता में, अखण्ड ब्रह्मभाव के साक्षात्कार के साथ-साथ अंश-अंशिरूप में आत्मस्फुरण होता है। यहाँ आत्मा परमात्मा के रूप में जीव उसका अभिन्न अंश होता है। जीव परमात्मा का अंश होते हुए भी स्वरूपतः अभिन्न है। परमात्मा विश्व का अधिष्ठाता है और जीव है अपने शरीर का अधिष्ठाता। ब्रह्मावस्था में जीव नहीं रहता—जीव का स्वकीय शरीर नहीं रहता। जाग्रत् चित्शक्ति के जरिये विश्व का उदय होता है और आत्मा ही परमात्मा के रूप में उसका अधिष्ठाता है, ऐसा भान होता है। साथ ही देह प्रकट होता है एवं अभिमानी जीव परमात्मा का स्वांश है, ऐसी अनुभूति भी होती है। ब्रह्मोपलब्धि होने के पूर्व मायिक जगत् में ऐसी स्थिति नहीं थी, क्योंकि उस समय जीव परमात्मा का भिन्नांश था। उस समय मायाशक्ति का प्रभाव था और इस समय चित्शक्ति का है। इस स्थिति में भी चित्शक्ति का क्रमशः विकास होता रहता है। इसके प्रभाव से जीव अभिन्नांश होकर क्रमशः अधिक मात्रा में अभेद उपलब्धि करता है। अन्त में परमात्मा के साथ जुड़ जाता है। यही योगयुक्त अवस्था ब्रह्मलय की तरह की स्थिति नहीं है, क्योंकि उस वक्त चित्शक्ति नहीं थी, किन्तु इस वक्त चित्शक्ति का जागरण हुआ है। चित्शक्ति का विकास इतनी दूर तक सम्पन्न होने के बाद मन, बुद्धि, चित्त आदि सब कुछ चिन्मय हो जाता है तथा सभी अप्राकृतिक रूप धारण करते हैं। मनोमय भूमि शान्त पूर्ण रूप में चिन्मय हो जाने पर इन्द्रिय-राज्य में परिवर्तन होना प्रारंभ हो जाता है। इधर चित्शक्ति के विकास के साथ-साथ ह्लादिनी शक्ति का विकास प्रारंभ हो जाता है। चित्शक्ति का विकास मनोमय भूमि से उच्छ्वसित होकर प्राण इन्द्रियादि भूमि में अवतरण करता है। इसी का नाम उल्लास है।

मनोमय जगत् के पूर्ण विकास के बाद विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोष के विकास का उल्लेख शास्त्रों में है। व्यष्टि रूप से देखने पर पहले उल्लिखित प्रणाली

के विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोषों के विकास का विवरण जानना पड़ेगा। समष्टि रूप में इसे पूर्ण ब्रह्म का अवतरण कहा जाता है। वास्तव में अवतरण नामक कोई शब्द नहीं है। अवरोह को ही अवतरण कहा जाता है।

मनोमय स्तर का जो परिणाम है, वह केवल चिन्मय होता है और स्थूल स्तर का परिणाम चिदानन्दमय। इस समय चित्शक्ति निरन्तर ह्लादयुक्त रहती है। इन्द्रियों का शोधन तथा परिवर्तन साधित होता है। यहीं जड़ तत्त्वों की निवृत्ति होती है, शरीर में ऐसी बातें होती हैं। जड़ इन्द्रिय और जड़ देह उस वक्त नहीं रहते। इन्द्रियों को चिन्मयत्व प्राप्त होता है तथा ह्लादिनी शक्ति के प्रवाह के कारण उसकी विषयभूत सत्ता में चिदानन्दरूप प्रकट होता है, जब कि सत्ता स्थूल रह जाती है। इसकी विशेषता यह है कि एक ही सत्ता में एक साथ पाँच कल्याण के गुण प्रकट होते हैं अर्थात् एक साथ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द का आविर्भाव होता है।

इसे भगवद्-अनुभव कहते हैं। इसके अनुभव से दिव्य रस, दिव्य गन्ध आदि सभी प्रकार के अन्तर्भाव होते हैं। यह अप्राकृत एवं नित्यसिद्ध वस्तु है। इसी भगवत्-अनुभूति को केन्द्र बनाकर विश्व-जगत् उस समय उन्मुख अवस्था के प्रभाव से वह स्थिति प्राप्त करता है। उस समय काल का संकोच नहीं रहता। परिणाम तथा मृत्यु की लीला समाप्त हो जाती है। अखण्ड प्रेम में समस्त विश्व प्लावित हो उठता है। उस वक्त अखण्ड अद्वैत के भीतर सूक्ष्म द्वैतमय भावजगत् एवं स्थूल द्वैतमय अभाव के जगत् में अखण्ड महायोग से मुक्त होकर प्रकट होता है। किसी व्यक्ति को जब यह अवस्था प्राप्त होती है तब समग्र विश्व में इसकी प्राप्ति सम्भव हो जाती है। यही पूर्णब्रह्म का आत्मप्रकाश अथवा प्रेममय भगवान् का आविर्भाव है। यहाँ काल की क्रमधर्मी कोई वस्तु नहीं है। इसके आविर्भाव के साथ ही काल हमेशा के लिए शान्त हो जाता है। कामवासना आदि अखण्ड महाप्रेम में उज्जीवित हो उठता है।

इसके प्राथमिक विवर्तन में आरोह और अवरोह दोनों के स्थान हैं। परिणाम में न आरोह है न अवरोह। चित् को अचित् से मुक्त होने के लिए आरोहक्रम की आवश्यकता होती है। चित् जब मुक्त हो जाता है तब अपनी शक्ति के द्वारा अचित् के रूपान्तर के लिए अवरोह अपेक्षित है। सेवा-कार्य के बाद जब समस्त विश्व का अभाव दूर हो जाता है तब सरल गति प्रकट होती है। इसके साथ ही अनादि अनन्त दिव्यधाम की अनुभूति होती है और बाहर का काल जगत् अनन्त दु:खमग्र प्रतीत होता है। इन दोनों के परिणामस्वरूप पूर्णानन्द का विकास होता है। इस विकास में जिस प्रकार एक ही सत्ता है, उसी प्रकार इस सृष्टि के अन्तर्गत अनन्त वैचित्र्य के प्रति एक कण की भी सार्थकता है। आरोह तथा अवरोह, अनुलोम तथा प्रतिलोम-क्रम, काल की वामावर्तिनी एवं दक्षिणावर्तिनी दो गतिमात्र हैं। इसके बाद आवर्त-गति नहीं रहती, क्योंकि काल का अभाव और दिव्य जीवन का आविर्भाव

होता है। उस वक्त रह जाती है सरल गति और नित्य लीला। इसी के एक छोर पर सर्वसाक्षीस्वरूप कालातीत महाबिन्दु रहता है। अगर किसी व्यक्तिविशेष को यह स्थिति प्राप्त हो जाती है तो समस्त विश्व के लिए इसकी प्राप्ति सहज हो जाती है। कारण, उस वक्त उन्मुख भाव के रहने पर बाधा देने लायक कोई विरुद्ध शक्ति नहीं रहती। समस्त विश्व का कल्याण इसमें निहित रहता है।

प्राचीनकाल के महापुरुष तथा धर्माचार्यों ने जिस कल्याण की चर्चा की है, वह आंशिक कल्याणमात्र है, क्योंकि उसमें काल का पराभाव नहीं हुआ है। कालसंकर्षिणी शक्ति की यही लीला है।

वर्तमान सृष्टि के मूल में काम है। इसकी समाप्ति प्रेम में होगी। यही रासलीला महारास है, जो आज तक नहीं हुई है। इसके फलस्वरूप वास्तविक आध्यात्मिक साम्यवाद प्रतिष्ठित होगा।



१५

आत्मा की यात्रा

प्रथम यात्रा में जड़भाव का त्याग और मनुष्यभाव की प्राप्ति।

द्वितीय यात्रा में मनुष्यभाव का त्याग और भगवद्भाव की प्राप्ति।

तृतीय यात्रा में भगवद्भाव में मग्न होकर अनन्त वैचित्र्य की खोज करना।

परमपूर्ण आत्मस्वरूप भगवत्सत्ता तथा ब्रह्मसत्ता से निकला है। इसकी जड़ में पूर्ण परब्रह्म के आत्मप्रकाश का संकल्प है। भगवत्सत्ता में जब अपने को जानने का संकल्प जन्म लेता है तब क्रमशः आत्मा तथा विश्व का आविर्भाव होता है। आत्मा सबसे पहले अखण्ड विराट् अनन्त सत्ता से 'अहं' के रूप में स्फुरित होता है तथा साथ ही साथ प्रतिद्वन्द्वी प्रकृति 'इदं' रूप में प्रकट होती है। कई आचार्यों ने इस अहं-इदं को पुरुष-प्रकृति कहा है। आत्मरूपी पुरुष क्रमशः प्रकृति के साथ-साथ संयुक्त होकर विकास के मार्ग पर अग्रसर होता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि आत्मा चिद्रूप और प्रकृति अचिद्रूप है। अभिव्यक्त स्थिति में चित् और अचित् अविविक्त रूप में प्रकाशमान हैं। अचित् तत्त्व अहंरूपी आत्मा के देहरूप में कल्पित होता है। पहले अस्पष्ट रूप में, बाद में क्रमशः अधिकतर स्पष्ट रूप में प्रकृति देहादि का रूप लेते हुए भोक्ता आत्मा के साथ मिल जाता है। यही है—८४ लाख योनियों का विकास-क्रम। इस क्रम में स्थावर सत्ता से लेकर जंगम सत्ता की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थावरों में भी क्रम होते हैं और जंगम में भी। अन्त में मनुष्य की उत्पत्ति होती है। यही प्रकृतिरूपा शक्ति का प्रथम क्रम-विकास है।

इस क्रम-विकास के मार्ग में पहले अन्नमय कोष का उद्‌भव होता है, इसके बाद क्रमशः प्राणमय कोष का होता है। मनोमय कोष के विकास के चिह्न मनुष्येतर जीवों में देखने में आता है। जब उसका पूर्ण विकास होता है तब मनुष्य-शरीर की उत्पत्ति होती है। मनुष्येतर जीवों में मन का आभास है, पर ठीक मन नहीं है। मनोमय कोष का विकास और मनुष्य-देह की उत्पत्ति प्रकृति के विवर्तन का

प्रथम एवं मुख्य परिणाम है। मन के लीला-क्षेत्र में षट्चक्र का विकास होता है तथा विवेक रहने के कारण कर्म करने का अधिकार प्राप्त होता है।

मानव-देह में ही नैतिक जीवन सम्भव है। पशु-पक्षी आदि इतर जीवों में नैतिकता का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि उनमें विवेक का विकास नहीं होता। मनुष्य-शरीर में ही मनोमय कोष का पूर्ण विकास होता है। धर्माधर्मरूप कर्मसंस्कार इसी देह में सम्भव है तथा इसी शरीर में अपनी स्वतंत्र सत्ता का विकास होता है। मनुष्य के कर्त्तव्य के पीछे प्रवर्त्तक के रूप में कर्तृत्वाभिमान रहता है। उसे अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि धर्माधर्मरूप और कर्मों का फल सुख-दुःख के अनुभव हैं। मनुष्येतर योनि में आत्मा न कर्ता था और न भोक्ता, पर मनुष्य शरीर पाने पर आत्मा कर्ता और भोक्ता दोनों हो जाता है। कर्ता बनकर कर्म करता है और भोक्ता होकर फल भोगता है। वास्तव में इच्छा का उदय मनुष्य-शरीर में होता है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि मानव-देह पाने के बाद मानव-प्रकृति का विकास होता है। मानव-प्रकृति के विकास में समय लगता है। यह पशुभाव है, वीरभाव नहीं। जब आकृतिगत मनुष्य प्रकृतिगत मनुष्यभाव को प्राप्त करता है तब पशुभाव, वीरभाव दोनों मनुष्यभाव में परिणत हो जाते हैं। मानव-देह ही भगवत्-प्राप्ति के लिए उपयोगी है, क्योंकि मनुष्यभाव का पूर्ण विकास ही भगवत्-भाव है।

पशुभाव में साक्षात् भगवत्-भाव का उन्मेष संभव नहीं है। मानव-शरीर प्राप्त करने के बाद जब तक मनुष्यत्व का विकास न हो तब तक मनुष्य कर्म के अधीन रहता है। स्वकृत कर्मों के फल-भोग के कारण बार-बार जन्म लेने से लेकर लोक-लोकान्तर में परिभ्रमण करना पड़ता है। कर्म के प्रभाव के कारण मनुष्य को पशु-पक्षी का रूप फल-भोग के लिए धारण करना पड़ता है। कुछ लोग देवयोनि में भी जाते हैं। कर्म-फल-भोग समाप्त होने के बाद मनुष्यभाव की पुनरावृत्ति होती है। इस प्रकार कोटि-कोटि जन्म लेने के बाद मनुष्य का कर्तृत्वाभिमान शिथिल होता है। तब वह समझ पाता है कि वह कर्ता नहीं है, प्रकृति से प्रभावित होने के कारण वह कर्म करता है। कुछ दूर और आगे बढ़ने पर समझ में आता है कि वास्तव में कर्ता जो हैं, वे प्रकृति के अधिष्ठाता स्वयं भगवान् हैं। वे ही सब कुछ करते हैं। जीवात्मा अभिमान के कारण अपने को कर्ता समझता है। इसके बाद कर्मसंन्यास आता है। यह स्थिति आने पर मनुष्य समझता है कि परमात्मा ही कर्ता है और उनके द्वारा प्रवर्तित होकर वह कर्म करता है। अन्त में वह यह भी जान जाता है कि परमात्मा ही कर्ता हैं और वह स्वयं गवाहमात्र हैं।

प्रथम यात्रा में आत्मा भगवत्-सत्ता में लीन ज्ञानहीन स्थिति से उद्बुद्ध होता है। ज्ञान पाने के बाद प्रकृति के क्रम-विकासानुसार ८४ लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद मानव-शरीर प्राप्त करता है। जब तक मनुष्य का कर्तृत्वबोध पूर्ण रूप

से समाप्त नहीं होता तब तक उसे फलभोग करना पड़ता है। मानव-देह की विशिष्टता है सर्वप्रथम कर्तृत्वाभिमान का उदय होना। इसे नैतिक जीवन कहते हैं। कर्तृत्वाभिमान समाप्त होने के साथ ही नैतिक जीवन का परिहार होता है। इसके बाद आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ होता है अर्थात् स्वयं कर्तृत्वाभिमान से मुक्त होकर कर्मसंन्यास प्राप्त करता है तब द्रष्टा के रूप में स्थितिप्राप्त होता है। इसे प्रथम यात्रा का अवसान समझना चाहिए। भगवान् से मनुष्य तक प्रथम यात्रा का यही स्वरूप है।

इसके बाद प्रारम्भ होती है द्वितीय यात्रा। इसका उद्देश्य है मनुष्यत्व से भगवत्-सत्ता तक उत्थान। इस यात्रा में पहले वैराग्य आता है। जागतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण कम हो जाता है। गुरुरूप में ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है। विवेक और ज्ञान-विकास होता है। यह सब मनुष्य से भगवान् तक जाने का आरोहण-मार्ग है। प्रारम्भिक अवस्था में गुरुनिर्दिष्ट मार्ग पर या अपने हृदयस्थित अन्तर्यामी के निर्देशानुसार चलना चाहिए। धीरे-धीरे ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है। स्थूल देह तथा स्थूल जगत् से विवेक अलग हो जाता है। सूक्ष्म जगत् तथा सूक्ष्मदेह एवं कारणदेह तथा कारण जगत् से आत्मा का वियोग होता है। सबके अन्त में मन से वियोग होता है। पहले मनोमय कोष अतिक्रान्त होता है, इसके बाद विज्ञानमय कोष। अन्त में व्यापक मन से सम्बन्धरूप अलग हो जाता है। अपर दिशा में ऐश्वरिक शक्ति तथा ऐश्वरिक प्रेम का विकास होता है। मन तथा महामन की पूर्ण निवृत्ति के बाद भगवत्-स्वरूप से साक्षात्कार होता है। इस स्थिति में साधक या योगी अपने को भगवत्-रूप में समझता है। यही है भगवत्-प्राप्ति की स्थिति। इस समय आत्मा को अनुभव होता है—'मैं ब्रह्म हूँ, मैं भगवान् हूँ, मैं ही विश्व-जगत् का स्वामी हूँ।'

मनोमय कोष के पूर्ण विकास होने पर जब नैतिक जीवन में पूर्णत्व आता है तब विज्ञानमय कोष के साथ-साथ आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ हो जाता है। आध्यात्मिक जीवन के पूर्ण प्रकाश होने के बाद आनन्दमय कोष में दिव्य जीवन प्रारम्भ होता है। यही दिव्य जीवन ही भगवत्-प्राप्ति करता है। यहीं यात्रा का दूसरा पड़ाव समाप्त होता है। इन दोनों यात्राओं को पूर्ण कर लेने के बाद भगवत्-प्राप्ति स्थायी हो जाती है। यह बात मानो कोई नहीं समझता, जीवों की ऐसी ही स्थायी दशा है। स्थितिशील दशा इससे अलग है। उसके साथ इसका कोई रिश्ता नहीं है।

जगत् गतिशील है। जीवात्मा जीवभाव त्यागकर भगवत्भाव प्राप्त करता है और भगवत्-स्वरूप में निरन्तर चलता रहता है। पहले भगवत्-स्वरूप से च्युत होकर मनुष्यादि रूप लेकर आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करता है। बाद में मनुष्यरूप से भगवत्-स्वरूप में परिवर्तन होता है। अन्त में भगवत्-स्वरूप में प्रविष्ट होकर अनन्तकाल तक संचरण करता है।

मनुष्य स्वयं ही भगवत्ता प्राप्त करता है और उसका आस्वादन लेता है। ऐसी विचित्र है भगवान् की महिमा। इसे स्थिति दृष्टि तथा गतिशील दोनों दृष्टियों से देखा गया है। गतिशील दृष्टि से देखने पर अनन्त स्थिति में अनन्त गतियों का अनुभव होता है। यही है तृतीय यात्रा का रहस्य। आम तौर पर प्रचलित दार्शनिक-सम्प्रदाय द्वितीय यात्रा के बाद स्थिति को समझ लेते हैं। लेकिन अद्वैत-शाक्त दार्शनिक महाशक्ति के भीतर इस परिस्थिति को परम गति के रूप में दर्शन करते हैं।

●

१६

अध्यात्म-साधना में जप का स्थान

अध्यात्म-साधना में जप और ध्यान दोनों ही प्रमुख हैं। जप-रहस्य को समझने के पहले शब्दतत्त्व अथवा वाक्तत्त्व को समझ लेना चाहिए। शब्द या वाक् चार प्रकार के हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परावाक् शब्द ब्रह्म-स्वरूप है, परम शिव का अभिन्न। उसकी बाह्य स्फूर्ति तीन प्रकार की है। प्रथम पश्यन्ती के रूप में, द्वितीय मध्यमा, तृतीय वैखरी के रूप में। समग्र विश्व का विश्लेषण करने पर योग-दृष्टि से तीन विभाग देखने में आते हैं। योगी इनसे परिचित हैं। एक शब्द, दूसरा अर्थ और तीसरा ज्ञान। अर्थ माने पदार्थ। शब्द उसका वाचक और अर्थ उसका वाच्य है, इसीलिए उनका आपस में वाचक-वाच्य का सम्बन्ध है। इसी प्रकार ज्ञान और अर्थ का सम्बन्ध है। अर्थ विषय और ज्ञान विषयी, इसीलिए इनका आपस में विषय-विषयी का सम्बन्ध है। इसी कारण से शब्द-अर्थ-ज्ञान तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। शब्द के साथ अर्थ का वाच्य और वाचक का सम्बन्ध है। ज्ञान के साथ अर्थ का बोध्य और बोधक का सम्बन्ध है। वैखरी की हालत में शब्द और अर्थ परस्पर भिन्न हैं। शब्द वाचक, अर्थ वाच्य वस्तु, दोनों में भेद है। मध्यमा की स्थिति में शब्द और अर्थ दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध होता है। पश्यन्ती की स्थिति में दोनों का अभेद सम्बन्ध हो जाता है। शब्द और अर्थ एक ही वस्तु है, पर पश्यन्ती अवस्था में तीनों का पूर्ण रूप प्रकट होता है। पश्यन्ती की स्थिति तक अगर जीव उठ जाता है तो उसका जीवन कृतार्थ हो जाता है। सद्गुरु जब शिष्य पर कृपा करते हैं तब पश्यन्ती स्थिति से दिव्य चैतन्य आहरण कर, कल्पना-राज्य से बाह्य वायुमण्डल में, वैखरी शब्दयोग से नाम अथवा बीजमंत्र शिष्य को गुरु देते हैं। वे जिस वस्तु को देते हैं, वह विशुद्ध चैतन्यात्मक होती है। उसे वे स्थूल शब्द के आवरण से ढँककर अपने शिष्य को एकान्त में देते हैं। शिष्य उस शब्द को देवता के रूप में ग्रहण करता है। गुरु से उसे जो कुछ मिला है, वह एक साधारण स्थूल शब्दमात्र है। गुरु के आदेश से उस शब्द का आलम्बन करते हुए साधक साधना करता है। साधना का लक्ष्य या उद्देश्य यह है कि उस

स्थूल बाह्य आवरण को हटाना। उस आवरण को हटाने के लिए ध्यान और जप आवश्यक है। जप-क्रिया के प्रभाव से वह आवरण दूर हो जाता है। यही है—ज्योति:स्वरूप। उस समय चित्त ज्योतिर्मय हो जाता है। निरन्तर जप करने पर इसकी चोट से गुरुदत्त मंत्र का बाहरी पर्दा छिन्न हो जाता है। बाद में भीतर से दिव्य ज्योति इष्टदेवता के रूप में प्रकट होती है। हृदय आलोकित हो जाता है। इसी का नाम है चित्त-शुद्धि। इसी समय नाद का उदय होता है। नाद के कारण चित्त की बहिर्मुख गति रुद्ध होती है और अन्तर्मुख की गति खुल जाती है। श्वासों की क्रिया शान्त हो जाती है तथा स्निग्ध ज्योति स्वाभाविक रूप से अन्तर्मुख होकर ऊर्ध्व की ओर बढ़ती है। उस समय भौतिक जगत् का अनुभव नहीं रहता। अशुद्ध मन के संस्कार नहीं रहते। उक्त ज्योति क्रमश: निर्मल होकर समस्त अन्तर को प्रकाशमय कर देता है। ठीक उसी प्रकार जैसे उषाकाल में रात्रि का अन्धतामस दूर हो जाता है। अन्धकार के उस पार इष्टदेवता से साक्षात्कार होता है। यही पश्यन्ती स्थिति की बात है। गुरु कृपापूर्वक जो शब्द शिष्य को अर्पण करते हैं, यही उनका प्रकृत स्वरूप है। यह अवस्था प्राप्त होते ही आत्मसाक्षात्कार होता है।

वैदिक-साहित्य में जिसे शब्दब्रह्म कहा गया है, तंत्र-साहित्य में उसे परावाक् कहा गया है। शब्दब्रह्म के गर्भ में विश्व अव्यक्त रूप में रहता है। सृष्टि के वक्त परावाक् से बहिर्मुखी गति प्रारम्भ होती है। परावाक् भगवान् का स्वतंत्र शक्ति-स्वरूप है। इसका नाम चित्-शक्ति है। भगवान् शिव और शक्ति दोनों ही हैं। शिव के रूप में वे शान्त, निस्पन्द, अक्षय और अव्यय हैं। शक्ति के रूप में वे सभी कर्मों का विभाग करते हैं। शिव के साथ शक्ति का सहयोग होने के कारण आत्मा अपने को पूर्ण अहं के रूप में ग्रहण करता है। यही पूर्ण अहंभाव परमात्मा का परम स्वरूप है। यहाँ न तो आवरण है और न जीव या जगत्। किन्तु पूर्ण अहं के संकोच के कारण आवरण की सृष्टि होती है। यह आवरण अपने स्वरूप का आवरण है। इस आवरण के ऊर्ध्व में अनावृत स्वरूप सदा रहता है। आवरण केवल लीला है। इस आवरण के साथ दो घटनाएँ होती हैं। प्रथम स्वरूप विस्मृति, द्वितीय अन्य किसी निज स्वरूप को अपना समझकर ग्रहण करना। वेदान्त में इसे लय और विक्षेप कहा गया है। लय तमोगुण की क्रिया से होता है और विक्षेप रजोगुण-क्रिया के कारण होता है। आत्मस्वरूप में जब आवरण उदित होता है तब सर्वप्रथम एक महाशून्य का आविर्भाव होता है—वह इस ओर होता है। दूसरी ओर परिच्छिन्न प्रमाता का उदय होता है। इसे मायाप्रमाता कहा जाता है। यही चित्त है। इसे वेदान्त में जीव कहते हैं और तंत्र में पशु। शुद्ध द्रष्टारूपी चिदात्मक यही मायिक प्रमाता ही जीवात्मा है। इस द्रष्टा के सामने दृश्य के रूप में महाशून्य तैरता रहता है। इस महाशून्य को पण्डितगण आकाश कहते हैं। वहाँ केवल शून्य—शून्य और शून्य, अन्य कोई दृश्य नहीं। यही शून्य जीव-रूपी द्रष्टा के लिए दृश्य के

रूप में प्रकट होता है। इन दोनों में जो सम्बन्ध है, वही दृष्टिरूप में परिचित होता है। इस दृश्य को द्रष्टा अभी तक अपना नहीं समझ पाता। इसके बाद संवित् प्राण-रूप में आत्मप्रकाश करता है। द्रष्टा उस समय महाशून्य में एक के बाद एक चलनशील असंख्य दृश्य देखता है। वे दृश्य प्रत्येक क्षण चलते रहते हैं। यही अनादि अविद्या की विक्षेप-शक्ति-क्रिया है।

संवित् में जब प्राण का आविर्भाव होता है तब उन दृश्यों में किसी एक को अपना समझकर वह ग्रहण करता है। वह दृष्य द्रष्टा के साथ एकाकार हो जाता है। यही है अभेदज्ञान या तादात्म्यबोध। इस वक्त द्रष्टा केवल द्रष्टा नहीं है। इस वक्त द्रष्टा का देहात्मबोध से सम्बन्ध है, क्योंकि यह दृश्य उसका शरीर हो जाता है। लेकिन यह स्थूल शरीर नहीं है, यह आत्मा का भूतपूर्व कर्मजनित संस्कार का उत्थान है। इस शरीर को लेकर आत्मा स्थूल जगत् में आने के लिए मार्ग की तलाश करता है। इसके बाद कर्मशक्ति के प्रभाव से योग्य माता-पिता के संसर्ग से मातृगर्भ में प्रवेश करता है। मातृगर्भ में मातृका-शक्ति के द्वारा उसके शरीर का निर्माण होता है, वह परिपुष्ट होता है। बाद में मातृगर्भ से काल के राज्य में प्रवेश करता है। मातृगर्भ में रहते हुए माँ की सत्ता के द्वारा वह अपनी सत्ता प्राप्त करता है। माँ के खाद्य से गृहीत पंचभूत से रस-रक्तादि से वह पुष्ट होता है। जब शरीर परिपूर्ण हो जाता है तब वैष्णवी मायारूप में शरीर गर्भ से बाहर आ जाता है। इसे प्रसव कहते हैं। इस प्रकार जीव काल-राज्य में प्रवेश करता है। काल-राज्य से बाहर आने पर अपने स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है। जिसका जिस भूमि तक ज्ञान समाप्त होता है, उसकी गति उतनी होती है। अतएव पूर्ण अव्यय स्वरूप में स्थिति प्राप्त करने के लिए पूर्ण स्वरूप जानना आवश्यक है। प्रत्येक का आत्मस्वरूप उसी पूर्णसत्ता का है, पर जब तक उन्हें पहचान नहीं लेते तब तक उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। प्रत्येक में जो पूर्ण आत्मस्वरूप है, उसी का नाम परमात्मा है। प्रत्येक की व्यक्तिगत विशेषता चाहे जैसी हो, पर उसके आत्मस्वरूप में कोई भेद नहीं है। आत्मस्वरूप को पहचानने के लिए बाह्य आवरण को भेद करना पड़ेगा और उसके बाद भीतर प्रवेश करके अपने मूल स्वरूप को खोजना पड़ेगा। केवल देव-देवी का रूप है कहने से आत्मस्वरूप नहीं होता। केवल ज्योति कहने पर आत्मस्वरूप नहीं होता। प्रकाश कहने पर भी आत्मस्वरूप नहीं होता। आत्मस्वरूप अपना ही अहं है। प्रत्येक व्यक्ति महामाया की माया में डूब जाने के कारण अपने स्वरूप को भुला बैठा है। माया से उद्धार या महामाया का अतिक्रम करना आवश्यक है। त्रिगुणात्मक प्रकृति राज्य से विवेकज्ञान द्वारा चिद्रूप स्वयं को कैवल्य में स्थापित कर सकता है, यह सही है। लेकिन इससे उसे वास्तविक लाभ नहीं होता। इस स्थिति में प्राकृत देह से मुक्त होने के कारण कर्म के संस्कार कट जाते हैं, जन्म-ज़न्मान्तर-भोग से निवृत्ति प्राप्त होती है। अधोलोक में पुनर्जन्म नहीं

लेना पड़ता। यह दुःख-निवृत्ति का सोपान अवश्य है, पर पूर्णत्व नहीं। जेल से मुक्ति मिलने पर राजगद्दी नहीं मिलती। राजकीय क्षमता भी आवश्यक है। कैवल्यमुक्त पुरुषों में यह नहीं रहती। फलतः यह समझना पड़ेगा कि ज्ञान के कारण कैवल्य प्राप्त करने की अपेक्षा श्रेष्ठ ज्ञान आवश्यक है। आत्मा का परमस्वरूप परमेश्वर से अभिन्न है। वह स्वरूप केवल दुःखों की निवृत्ति होने से प्राप्त नहीं होता। उसके लिए दिव्य ज्ञान चाहिए। यह सांख्ययोगी का विवेकज्ञान नहीं है। इसका नाम है—शुद्ध विद्या। यह केवल भगवान् से प्राप्त होती है और वह भी सद्गुरु की कृपा से। श्री भगवान् जब यह देखते हैं कि जीव का अनादि संसार के हेतुस्वरूप मल परिपक्व हो गया है तब वे जीव को करुणादान करते हैं। इसी का नाम है—शुद्ध विद्या। जब यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उच्च अधिकार प्राप्त होता है, महामाया-राज्य में प्रवेश होता है, धीरे-धीरे अधिकार-वासना निवृत्त होने पर ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है तब महाज्ञान का पूर्ण विकास होता है। उस वक्त काल-राज्य समाप्त हो जाता है। माया, योगमाया आदि राज्य का अवसान हो जाता है। अनन्त विश्व का मूल कारण शिव-शक्ति के संधान में मिलता है। जहाँ शिव-शक्ति पृथक् हैं, वहाँ अपूर्ण—इसी अपूर्ण स्थान में शिव पूर्णस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, अखण्ड चैतन्यस्वरूप हैं, शक्ति ऐसी नहीं है, पर अनन्त ऐश्वर्य की एकमात्र आधार है। यह तत्त्वरूपी शिव-शक्ति है, किन्तु जो पूर्णत्व का यात्री है, वह शिव-शक्ति में विश्राम नहीं करता। उसके निकट शिव और शक्ति अभिन्न हो जाते हैं। उस समय शिव शक्तिमय और शक्ति शिवमय हो जाती है। यही निष्कल स्थिति है। यही परम सत्वित्, इसी का नाम परब्रह्म है। इस स्थान पर साधक स्वयं नहीं जा सकता। महामाया के सभी तत्त्वों से उन्मनी शक्ति की कृपा बिना इस परमपद तक पहुँचना कठिन है। साधक समग्र विश्व का भेद अवश्य करता है, पर पूर्णत्व प्राप्त नहीं करता। जिस प्रकार शाम के समय नदी किनारे बैठा यात्री उस पार जाने की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार वह भी इन्तजार करता है। इसी का नाम उन्मनी शक्ति का उदय है। परम शिव से उन्मनी शक्ति उदित होती है। यही शक्ति उसे परमपद तक ले जाती है, पूर्णत्व देती है। उस वक्त जीव नहीं, शिव सिर्फ शिव नहीं, परम शिव हैं। प्रत्येक जीव को पूर्णत्व प्राप्त करने का अधिकार है, पर सभी को यह प्राप्त नहीं होता। पर मार्ग का परिचय सभी को जानना चाहिए।

(प्रणाम—भगवान् का चरण और अपना मस्तक एक करना। हर वक्त इसे स्मरण रखना चाहिए।)

●

१७

अध्यात्म-मार्ग में कृपा और कर्म

मानव-जीवन का परम लक्ष्य है—भगवान् या भगवत्-प्राप्ति करना। इस प्राप्ति के लिए उपायों का सहारा लेना चाहिए। साधक में जब तक देहाभिमान रहे और कर्तृत्वबोध के अनुसार कार्य करे तब तक कर्म को छोड़कर अन्य किसी उपाय का सहारा लेना उसके लिए कठिन है। काम-प्रवृत्ति आती है अभिमान से। प्रत्येक शरीरधारी प्रतिक्षण कर्म करता है। अभिमान-राज्य में रहते हुए अभिमान से मुक्त होना सम्भव नहीं है, इसीलिए कर्म के लिए कौशल की जरूरत होगी। वह कौशल है—योग— ''योगः कर्मसु कौशलम्''। कर्म में जिस बन्धन की आशंका रहती है, उससे मुक्त होकर कर्म करना पड़ेगा। बन्धन का कारण है चित्त की मलिनता। यह मलिनता आती है फलाकांक्षा से। यही कामना ही चित्त को मलिन करती है। फल मिले या न मिले, उसकी प्राप्ति की आशा ही चित्त को कलुषित करती है, इसीलिए कर्तृत्लबोध त्यागकर कर्म करना चाहिए। इसी का नाम है—योगस्थ कर्म। इसमें आसक्ति नहीं रहती। सिद्धि और असिद्धि में समभाव रहता है। यही समत्वयोग है। कर्म करते रहने पर चित्त शुद्ध हो जाता है। इस स्थिति में अभिमान को शिथिल करने के लिए कर्म करने में सामर्थ्य नहीं रहता। आत्मा असमर्थता अनुभव करती है। भले ही इस स्थिति में अभिमान शिथिल हो जाय, पर उसका लेश रहता है। इसे समाप्त करने के लिए कर्म की आवश्यकता होती है। इस समय अन्य कुछ करने को न सोचकर परमेश्वर या भगवान् का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। इसे शरणागति कहा जाता है। दूसरी ओर संन्यास भी कहा गया है।

किसी प्रकार के कर्म में लिप्त न रहकर केवल परमात्मा के प्रति ध्यान रखा जाय। उनके प्रति ध्यान रखना शरणागति का लक्षण है। ऐसा करते रहने पर धीरे-धीरे कर्म छूट जाता है। जब तक हृदय में अभिमान का आभास रहेगा तब तक करते रहना चाहिए। शरणागत-साधक भगवान् को सर्वतोभाव से आश्रयरूप में अगर मनोनीत कर ले तो कर्तृत्वबोध की निवृत्ति हो जाती है। इस अवस्था में परमात्मा स्वयं प्रयोज्य कर्ता बन जाते हैं। ''त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा

नियुक्तोस्मि तथा करोमि" तब साधक यह समझता है कि वास्तविक प्रेरक एवं कर्ता अन्तर्यामी भगवान् ही हैं। इसके बाद कर्तृत्व नहीं रहता तब साधक निश्चिन्त हो जाता है। भगवान् स्वयं कर्तृत्व को लेकर स्फुरित होते हैं। साधक यह सोच नहीं पाता कि वह अन्य के द्वारा प्रेरित होकर कर्म कर रहा है। उस समय वह साक्षी तथा द्रष्टा बना रहता है—भगवान् स्वयं कर्ता बनते हैं। तब साधक को इस बात की अनुभूति होती है कि उसके शरीर, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जो कार्य हो रहे हैं, उसे श्री भगवान् ही कर रहे हैं । इस समय वह धर्माधर्म से मुक्त होकर भगवान् के चरणों में अपने को समर्पित कर देता है और उनकी अनन्त लीलाओं का दर्शन करता है। साधारण दृष्टि से कर्म का स्थान पहले और कृपा का स्थान बाद में है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि कर्म के मूल में भी कृपा है, पर वह कृपा गौण है । मुख्य कृपा तभी प्रकट होती है जब साधक शान्त शिशु की भाँति द्रष्टाभाव से भगवान् के चरणों में अपने को समर्पित कर देता है।

इस प्रसंग में आगम-दृष्टि भी विचारणीय है। आगम-दृष्टि के अनुसार प्राचीन तांत्रिकों का कथन है कि सामान्य दृष्टि से उपाय का अवलम्बन करते हुए उपेय को पाना होगा। अभिमान के कई भेद हैं, जैसे देहाभिमान, प्राणाभिमान, इन्द्रियाभिमान, बुद्धि का अभिमान, मन का अभिमान आदि। इन अभिमानों के लिए कर्म आवश्यक है। उन-उन कर्मों से वही-वही अभिमान शान्त हो जाते हैं। अभिमान शान्त हो जाने पर प्रेरणामूलक कर्म भी शान्त हो जाता है। इसके बाद साधक के लिए विधि-निषेध की आवश्यकता नहीं रहती। अब सवाल यह है कि ऐसा कैसे होता है ? यह वही अवस्था है, जिस अवस्था में जीव का अन्तस्थ चित्शक्ति अनादिकाल की निद्रा से जाग उठता है। यही प्रबुद्धभाव की पूर्वावस्था है। लौकिक भाषा में इसे कुण्डलिनी-जागरण कहते हैं। संवित्-शक्ति का जागरण होने पर साधक को अपनी ओर से कुछ नहीं करना पड़ता। गोकि किंचित् देहाभिमान रहने पर आभासस्वरूप कर्म रह जाता है, पर वह नाममात्र रहता है। शक्ति जागरित होकर ऊर्ध्वमुख की ओर प्रवाहित होती है तथा इस प्रवाह के साथ अचित्-सत्ता चिदात्मक रूप धारण करने के बाद चित्-सत्ता के साथ मिल जाता है। गोमुखी से गंगा बरफ के दुर्गों को भेद करती हुई जब जल के रूप में प्रवाहित होने लगती है तब अपने वेग से समुद्र की ओर अग्रसर होती है। साधक भी इसी प्रकार महाशक्ति का आश्रय लेकर समुद्र की ओर अग्रसर हो सकता है। इसके लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता अर्थात् शक्ति की क्रिया से वह क्रियाशील हो जाता है। इसी प्रकार शक्ति के साथ मिलकर जीवरूपी आत्मा शिव या ब्रह्मरूपी समुद्र तक पहुँच जाता है। गंगा जिस प्रकार समुद्र में जाकर समुद्रभावापन्न होती है, उसी प्रकार जीव शिवत्व प्राप्त करता है। जिस प्रकार कनिष्ठ अधिकारी के लिए

आणव-उपाय करना आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार मध्यम अधिकारी के लिए शाक्त उपाय करना चाहिए। गीता में कहा गया है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

यहाँ भी पूर्णत्व प्राप्त नहीं होता, इसके लिए शाम्भव उपाय की आवश्यकता होती है। शिव होने पर भी तब तक पूर्णत्व नहीं आता जब तक शिव होने का बोध नहीं होता। ज्योंही यह बोध हो जाता है त्योंही पूर्णत्व में स्थिति प्राप्त हो जाती है। यहाँ सत्ता और बोध दोनों रहते हैं। सत्ता-बोध होने पर आनन्द आता है। सरल भाषा में इसे कहा जाता है गुरु या शास्त्रानुसार कर्म करना उचित है। निष्काम कर्म से चित्त निर्मल हो जाता है, तब परमेश्वरी शक्ति के सहारे आगे बढ़ना चाहिए। इसी को कृपा कहते हैं। अन्त में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर स्वरूपबोध में स्थित रहना पड़ेगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कृपा और कर्म दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। प्रारम्भ में कर्म प्रधान रहता है और अन्त में कृपा। पूर्ण स्थिति में न कर्म रहता है और न कृपा। किसी-किसी साधक को कर्म के बाद कृपा का अनुभव होता है, किसी को कृपा के प्रभाव से कर्म में प्रवृत्ति होती है। यह तारतम्य जन्मान्तरीण संस्कार के प्रभाव से घटता है। कृपा में अनेक प्रकार के तारतम्य हैं। महाकृपा की यही विशिष्टता है, भगवान् स्वयं आकृष्ट होकर भक्त के निकट आते हैं। जैसे बच्चे के रोने पर माँ को आना पड़ता है।

●

१८

ओंकार

ओंकार के बारे में माँ ने जो कुछ कहा है, वह शास्त्रों की बातें हैं, पूर्ण सत्य। शास्त्रों में कहा गया है कि ओंकार और 'अथ' इस सृष्टि के आदिशब्द हैं। ओंकार शब्द ब्रह्मस्वरूप है। परमब्रह्म का बाहरी प्रकाश ही शब्दब्रह्म है। वे पराशक्ति के स्वरूप हैं। उपनिषदों में ओंकार को उमा कहा गया है अर्थात् परशिव की पराशक्ति कहा गया है। सृष्टि के मूल में यही शब्द है। व्यवहार के रूप में भूर्भुवः स्वः। इसे ग्रहण कर वे विश्व की रचना करते हैं। शब्द, शास्त्र के अनुसार पर-अपर भेद से दो प्रकार हैं। पर शब्द आदिशब्द है या आदिस्पन्दन, जिसमें से विश्व में सभी पदार्थ एवं भावनिचय बाहर प्रकट हो रहे हैं। यह कहा जा चुका है कि शब्द पर-अपर भेद से द्विविध है। अपर शब्द तीन प्रकार के हैं। प्रथम शब्द एवं अर्थ अखण्ड अनुभव से नित्य प्रकाशमान हैं। द्वितीय में वही शब्द केवल विकल्परूप में चित्ताकाश में स्फुरित हो रहा है। इसके बाद तृतीय स्तर में वही शब्द विकल्प बहिर्मुख होकर बाह्य वायु की चोट सह्य कर रहा है। जब तक केवल संकल्प-राज्य था तब तक वहाँ बाह्य वायु का प्रवेश नहीं था। वहाँ ज्योतिनाद दिव्य सम्पद् रूप में निरन्तर उच्छ्वसित होकर चिदाकाश की ओर धावमान हो रहा है। बाह्य वायु से संस्पर्श होने पर शब्द घनीभूत होता है, उस वक्त प्राण के साथ मिलन होता है, श्वास-प्रश्वास का उदय होता है तथा श्रोत्रग्राह्य मूल वर्णरूप में शब्द प्रकट होता है। इसी को 'वैखरी' कहा जाता है। यही जीव की बद्धावस्था है। इसी के अन्तर्गत सारा विराट् प्रपंच है। लोक लोकान्तर में असंख्य हैं, पर सभी बाह्य वायु के अन्तर्गत हैं। इस स्तर में, विशेष रूप से शरीर का अभिमान स्पष्ट रहता है। शब्द के साथ उसका प्रकाश्य अर्थ का यहाँ कृत्रिम सम्बन्ध स्थापित होता है। इस वक्त विकल्प के स्थान पर अशुद्ध विकल्प के श्वास-प्रश्वास की गति इड़ा-पिंगला के बीच से प्रवाहित होती है। सुषुम्ना नाड़ी एक प्रकार से बन्द रहती है। वैखरी लौकिक जगत् में शब्द के रूप में तथा भाषा के रूप में परिचित है। शुद्ध शब्द वैखरी या अन्तर्वैखरी नहीं है। अन्तर्वैखरी के बाद शुद्ध विकल्प का आभास ज्योति

के उदय होने पर प्राप्त होता है। वायु की वामावर्त-दक्षिणावर्त की गति ठहर जाती है। इसके बाद वह शब्द आदिवाक् और परावाक् तक पहुँच जाता है। यही वास्तव में शब्दब्रह्म है जो परब्रह्म के साथ अभिन्न है। तभी पूर्ण अहंबोध का जन्म होता है। जगत् में सर्वत्र अहं विराजमान है। योगी और ऋषिगण परावाक् को ही ओंकाररूप में निर्देश करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र के अलावा अनागत वर्तमान, स्थूल-सूक्ष्म कारण आदि सब कुछ उसी से उद्‌भूत हैं। शब्दमूलक जो जगत् सृष्टि है, इसका उल्लेख विश्व के सभी धर्मों में है।

जितने प्रकार के बीज-मंत्र तंत्रशास्त्र में हैं, वे सब मंत्र-समूह पूर्ण अहं सत्ता से प्रकट हुए हैं। इसे प्राप्त कर लेने पर जागरण अर्थात् पूर्ण चैतन्य प्राप्त होता है। पृथ्वी में जितनी भाषाएँ हैं, सबकी जड़ में वर्णमाला है। वर्ण किसी भी रूप में सज्जित क्यों न हों, पर उनकी जड़ एक ही है। इन्हीं वर्णमालाओं से भाषा का निर्माण होता है। भाषा के द्वारा भाव प्रकट होता है। किन्तु मूल में जो वर्णातीत नाद है, वही बोध का मूल है। यह सामग्री सभी देश में प्रचलित भाषास्थित वर्णमाला के पीछे मौजूद है—उसकी मूल ज्योति। यही महाज्योति ओंकारस्वरूप तक पहुँचा देती है। फलतः प्रत्यक्ष रूप से भले ही न हो, पर परोक्ष रूप में ओंकार ही सभी भाषाओं का मूल है। जो लोग जप के द्वारा मंत्रचैतन्य हुए हैं, वे इसे समझ सकते हैं।

आगे कहा गया है कि अशुद्ध शब्द से शुद्ध शब्द के साथ अन्तर्जगत् में प्रवेश होता है, इसके मर्म को समझना आवश्यक है। यह बात पहले ही कह चुका हूँ कि चित्त का ऊर्ध्वमुख जब खुल जाता है तब नाद का प्रकाश अपने-आप हो जाता है, वैखरी के अक्षरों या नाद के साथ अनुस्वार का संयोग कर निरन्तर जप के प्रभाव से उक्त अनुस्वार नाद में परिणत हो जाता है। नाद में परिणत होने पर स्थूल आवरण हट जाता है। तांत्रिक-प्रक्रिया के अन्तर्गत वर्ण या पद के बाद अनुस्वार के निरन्तर चिन्तन का यही उद्देश्य है। नाद में उपनीत हो जाने पर विश्वव्यापी स्रोत खुल जाता है। ग्रंथि-बंधन खुल जाते हैं। जीव के भाव में भावग्रंथि, द्रव्यग्रंथि आदि नाना प्रकार की ग्रंथियाँ रहती हैं। इन ग्रंथियों की मूल ग्रंथि—अहं या अहंकार है। ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि, रुद्रग्रंथि आदि प्रकार-भेद होते हैं। केवल स्थूलग्रंथि ही नहीं, भावग्रंथि का भी कट जाना आवश्यक है। इस अवस्था को मुक्तावस्था कहा जाता है। देहात्मबोध के मूल में जो अहंकार रहता है, उससे सभी परिचित हैं। सभी ग्रंथियों से मुक्त हो जाने पर जीव भिन्न-भिन्न आकार में अपने को प्रकाशमान नहीं देखता। उस वक्त समस्त विश्व अपना बन जाता है। ग्रंथिहीन होने के कारण उस समय उसे मुक्त पुरुष कहा जाता है।

●

१६

गति-स्थिति

गति और स्थिति क्या है ? गति अर्थात् प्रयाणकाल की गति। मृत्यु के बाद वाली गति के बारे में शास्त्रों में लिखा है—एक है देवयान गति और एक है पितृयान गति। पितृयान गति चन्द्रलोक तक जाती है। वहाँ भोग आदि समाप्त करने के बाद उसे वापस आना पड़ता है, इसीलिए यह वक्रगति है। देवयान गति सूर्यमण्डल की ओर जाती है। सूर्यमण्डल को भेदकर ब्रह्मस्वरूप में उसकी स्थिति हो जाती है। वहाँ से उसे वापस नहीं लौटना पड़ता। यह वक्रगति नहीं, सरलगति है। गति की दृष्टि से ये दोनों गतियाँ हमारे शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं।

पितृयान वक्रगति है, जिन लोगों को पुनर्जन्म लेना पड़ता है, उनके लिए है। इस गति से जाने पर वहाँ स्थायी रूप से रहना नहीं पड़ता। चाहे वह स्वर्ग में जाय या किसी अन्य लोक में। उसे पुनः नरदेह में वापस आना पड़ता है, फिर से कर्मपथ पर अग्रसर होना पड़ता है। यह गति प्रत्येक समय तिरछी जाती है अर्थात् ऊपर जरूर जाती है, पर पुनः लौट आती है। देवयान गति का ज्ञान के साथ सम्बन्ध न जुड़ा रहे तो हो नहीं सकता। पूर्ण विशुद्ध ज्ञान के बारे में नहीं कर रहा हूँ, फिर भी ज्ञान के साथ कर्म के योग के अलावा, ज्ञान-कर्म दोनों का यदि समुच्चय न रहे तो देवयान गति नहीं होती। भक्त, खासकर भक्ति-सम्प्रदाय के विशेष-विशेष आचार्यों ने इस देवयान गति के बारे में विशेष रूप से चर्चा की है। सिर्फ यही नहीं, मृत्यु के समय जो उत्क्रमण होता है, उसका भी उल्लेख उन लोगों ने किया है।

उत्क्रमण का एक मार्ग है और वह है सुषुम्ना-मार्ग। हमारे शरीर में जिस प्रकार सुषुम्ना नाड़ी गयी है, ठीक इसी प्रकार शरीर के बाहर विश्व ब्रह्मांड के भीतर भी सुषुम्ना नाड़ी है। सुषुम्ना सूर्य-रश्मि की एक नाड़ी या रश्मि है। सूर्य की जो सरल रश्मि है, वही है सुषुम्ना नाड़ी। अगर मृत्यु के वक्त जीव इस नाड़ी के सहारे ऊर्ध्वगति प्राप्त कर सके तो देह-त्याग के पश्चात् इस नाड़ी के सहारे सूर्य-मंडल

भेद करता हुआ वह ब्रह्मलोक तक जा सकता है। यही गति है—देवयान गति। इस गति में पुनरावर्तन नहीं होता।

एक ऐसी अवस्था है, जिसमें ऊर्ध्वगति नहीं रहती। वही है गतिहीन स्थिति की अवस्था। यह सभी की नहीं होती। जिन्हें ऊर्ध्वगति होती है, उन्हें होती है, होने के बाद परमात्मा या परमेश्वर के स्वरूप में योग सिद्ध होता है। भक्त, योगी आदि ऐसी गति प्राप्त करते हैं। अगर ज्ञान का पूर्ण विकास हो जाय तो ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनके विकास के कारण आवश्यक नहीं होती। गति का अर्थ यह है कि जो जहाँ है, वहाँ से एक उत्कृष्ट स्थान है एवं गति का आश्रय लेने पर निकृष्ट स्थान से निकलकर उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करता है। उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करने के बाद नित्यकाल वह उसी अवस्था में स्थित रहता है। जो लोग गति को मानते हैं, उनका यही सिद्धान्त है कि जाना तो है, वापस लौटना नहीं है। 'यद् गत्वा न पुनरावर्तन्ते'—उसका यही भाव होता है। चन्द्र, सूर्य और अग्नि की जो अतीत अवस्था है, इस ऊर्ध्वगति के द्वारा अगर यह धाम कोई प्राप्त कर लेता है तो उसका पुनरावर्तन नहीं होता।

ऐसी अवस्था भी है जहाँ जाने का प्रश्न नहीं उठता। एक यह हुआ कि गया, पर वापस नहीं आया। दूसरा यह कि गया, पुनः वापस आ गया। तीसरा यह है कि जाना ही नहीं है, फिर लौटने का प्रश्न कहाँ? जाता है और फिर वापस आता है, यह है पितृयान की बात। नरदेह रह जाता है, पुनः नरदेह में वापस आता है, क्योंकि नरदेह है कर्म का अधिकारी तथा उन्हीं कर्मों के कारण यह सब गति होती है। फलतः वह ऊर्ध्वलोक या अधोलोक में जाय तो वहाँ अटका नहीं रहता। पुनः नरदेह में वापस आना पड़ता है, पुनः नये सिरे से कर्म करता है, पुनः मृत्यु के समय में कर्मानुरूप गति होती है। वही है जाना और आना।

एक गति और है। इस नरदेह से गया जरूर और ऐसे रास्ते से गया, जिस रास्ते से जाना पड़ता है और फिर वापस आना नहीं पड़ता। ''यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम''—यही उस भाव की बात है। यह किस समय होता है? क्या यह केवल कर्म के द्वारा होता है? नहीं, कर्म के द्वारा नहीं होता। क्या विशुद्धतम ज्ञान से होता है? नहीं, विशुद्ध ज्ञान में कोई गति नहीं रहती। आखिर वह कौन-सी अवस्था है? वह अवस्था उपासकों के लिए है। ब्रह्म-उपासना के जरिये जो लोग ऊर्ध्वगति प्राप्त करते हैं, वे लोग वापस नहीं लौटते। वहाँ जाने के कारण भगवान् के साथ जुड़ जाते हैं और जब उनसे जुड़ जाते हैं तब वापस नहीं आते। उनके लिए वापस लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता। आयेंगे ही क्यों? उन्हें कोई कर्म तो करना नहीं रहता। यहाँ यह सवाल उठ सकता है कि कर्म नहीं है तो जाते कैसे हैं? जब जाते हैं तब जरा कर्म था, ज्ञान कर्म-समुच्चय होता है न, थोड़ा कर्म

वहाँ था। फलत: उस उपासना के कारण ऊर्ध्वगति होती है। उसी वजह से परमधाम में स्थिति हो जाती है।

अगर यह शरीर रहते कर्म सम्पूर्ण रूप से लोप हो जाय, कर्म का जरा भी लेश न रहे, जो सम्भव है, ऐसा मत है, तो ऐसी स्थिति में गति क्यों रहेगी ? ऊर्ध्वगति का प्रश्न ही नहीं, वापस लौटने का प्रश्न यहाँ नहीं है, क्योंकि जाने पर वापस आयेगा ही। कोई कहीं भी रहे, वह उसी अवस्था में स्वरूप में स्थित हो जायगा। स्वरूप सर्वत्र है। स्वरूप ऐसा नहीं होता कि अन्यत्र जाकर स्वरूप प्राप्त करता है। फलत: वहाँ से स्वरूपप्राप्ति के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है।

सवाल कर सकते हो कि जो लोग जाते हैं, उनका अपराध ? वे लोग स्वरूप पाते नहीं। चूँकि वे पाते नहीं, इसीलिए उन्हें निकृष्ट स्थान त्याग करना पड़ता है और तब उत्कृष्ट स्थान में जाकर स्थित होते हैं। लेकिन जिन लोगों को यहीं परम स्थिति प्राप्त होती है, अगर विशुद्धतम ज्ञान उन्हें हो जाता है तो जायेंगे कहाँ ? मैं वहीं जाऊँगा जहाँ उत्कृष्ट स्थान है। लेकिन उत्कृष्ट-निकृष्ट का जहाँ प्रश्न नहीं है, जहाँ छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं है, सभी वस्तुएँ शुद्ध हैं, शुद्ध ब्रह्म समभाव में सर्वत्र विराजमान या मौजूद हैं—इस ज्ञान का प्रकाश अगर हो जाय तो वह कहाँ जायगा ? उसके लिए जाने की कोई जगह नहीं है। फलत: उसके लिए किसी गति की जरूरत नहीं होती।

फिर भी तीन प्रकार की अवस्थाएँ हैं—(१) जाना और आना, (२) जाना तो पर आना नहीं, (३) जाना भी नहीं, आना भी नहीं। यही है गति-स्थिति का असली रहस्य।

●

२०
तीर्थ

साधारण तौर पर तीर्थ का मतलब क्या है ? हम सब यह समझते हैं कि वृन्दावन एक तीर्थस्थान है, प्रयाग, पुरुषोत्तमपुरी, काशीधाम, भुबनेश्वर एक-एक तीर्थस्थान हैं। इस प्रकार अनेक तीर्थस्थान हैं। पृथ्वी के विशेष-विशेष स्थानों को पवित्र मानकर इनका नामकरण करते हैं। यह है एक प्रकार से तीर्थ की परिभाषा। पर हमें तीर्थ शब्द के अर्थ को जानना चाहिए। 'तृ' धातु से तीर्थ बना है। 'तृ' धातु के माने तरण या उत्तरण अर्थात् जिसकी सहायता से हम लोग कोई एक दुर्गम, कोई एक नदी, कोई एक आवरण, संकट पार कर सकते हैं, वही है तीर्थ। नदी का तीर्थ किसे कहते हैं ? घाटों को। इसीलिए बड़े-बड़े महात्माओं ने Oxford का अनुवाद किया है—उक्षतीर्थ। नदी जितनी दूर हल कर पार करने लायक है, वहाँ से मनुष्य पार हो जाता है, उसी को तीर्थ कहते हैं। एक किनारे से दूसरे किनारे तक पार होने को तीर्थ कहते हैं। एक पार से दूसरे पार जाने का नाम है तरण अर्थात् पार उतरना। जिसकी सहायता से पार उतरा जाता है, कोई दुर्गम या दुरतिक्रम व्यवधान, उसी को तीर्थ कहते हैं।

इस हिसाब से मेरे गुरु हैं तीर्थ, क्योंकि गुरु की सहायता से हम लोग भवसागर पार उतर सकते हैं। संसार उत्तीर्ण हो जाते हैं, उनकी सहायता से। इसीलिए गुरु हैं तीर्थ। इसीलिए एक गुरु के अगर पाँच शिष्य हैं तो उन्हें कहा जाता है सतीर्थ अर्थात् जिनका समान तीर्थ यानी एक गुरु के शिष्य। तीर्थ शब्द का प्रयोग गुरु अर्थ में व्यवहार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह समझना पड़ेगा कि जो उत्तीर्ण कर देते हैं अथवा उत्तीर्ण होने में सहायता देते हैं या जिससे उत्तीर्ण होने में सहायता मिलती है, वही तीर्थ है। हमारे प्राचीन मुनि-ऋषियों की यही धारणा रही है।

महाभारत के शान्तिपर्व में एक जगह लिखा है कि पृथ्वी के विभिन्न स्थान सभी त्रिगुण में ही हैं। तब तो जहाँ सत्त्वगुणों का आधिक्य है, अर्थात् इसके कारण उसका एक वैशिष्ट्य है और इसी वैशिष्ट्य के कारण उस स्थान को तीर्थ समझते

हैं। उक्त सत्त्वगुण सभी जगह समान रूप से नहीं रहता, क्योंकि प्रकृति का सब कुछ त्रिगुण द्वारा रचित है, फिर भी कहीं सत्त्व की प्रधानता रहती है तो कहीं रजोगुण की, कहीं तमोगुण की प्रधानता रहती है। सत्त्व के प्राधान्य दो तरह के हैं। इनमें एक है स्वाभाविक और दूसरा है नैमित्तिक। सृष्टि के साथ-साथ उन जगहों पर सत्त्वगुणों का आधिक्य रह गया है। क्यों रह गया, यह एक अलग बात है जिसे आगे बताऊँगा।

प्रत्येक जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, मनुष्य की चित्तवृत्ति आदि में त्रिगुण के विभाग हैं। किसी में रजोगुण, किसी में तमोगुण और किसी में सत्त्वगुण का प्राधान्य है। सत्त्वगुण प्राधान्य के भीतर भी आपेक्षिक रूप में सत्त्वगुण, तमोगुण, रजोगुण रहता है। सत्त्वगुण में भी सत्त्वगुण रहता है। गुण-विभाग से सृष्टि है, अतएव सभी जगह त्रिगुण रहेगा। सत्त्वगुण जहाँ अधिक परिमाण में रहता है, वहाँ उसका प्रभाव मिलता है तथा उसके प्रभाव के द्वारा मनुष्य का देह, मन आदि शुद्ध हो जाता है। अतएव तीर्थ शब्द का मतलब यह है कि जिस स्थान या पुरुष में सत्त्वगुणों का आधिक्य है तथा जिसकी सहायता से मनुष्य अति दुरतिक्रमणीय कोई भी व्यवधान को पार कर सके। सबसे बड़ा व्यवधान है—संसार। संसार को अतिक्रम करने में सबसे बड़ी सहायता मिलती है सत्त्वगुणों से। यह सत्त्वगुण जहाँ से प्राप्त होता है, वही तीर्थ है।

यह तो हुई स्वाभाविक दृष्टि की बात। जैसे जीव-समूह में कुछ जीव ऐसे हैं, जो स्वभाव से सत्त्वगुणप्रधान हैं और कुछ ऐसे हैं, जो रजोगुण या तमोगुणप्रधान हैं। यह सब जैसे हैं, इसी प्रकार यह भी सत्य है कि फल-फूल, लता-पत्तियाँ आदि चीजों में कुछ सत्त्वगुणप्रधान, कुछ रजोगुणप्रधान, कुछ तमोगुणप्रधान और कुछ मिश्र हैं। इसी प्रकार सृष्टि में सर्वत्र है। जैसे अश्वत्थ वृक्ष को सत्त्वगुणप्रधान कहा गया है। वट वृक्ष और नीम वृक्ष भी सत्त्वगुणप्रधान हैं। हमारे शास्त्रों में सभी वस्तुओं में है, कहा गया है। यहाँ तक कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के विभागों में भी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का वर्गीकरण है, यह वह नहीं है। मनुष्य हो जाने पर Cast रूप में परिणत हो जाता है, जब कि यह Cast नहीं है, यह है गुणप्रधान। 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'—वहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं—गुण और कर्म के विभागानुसार चतुर्वर्णों का आविर्भाव हुआ है। फलतः जहाँ सत्त्वगुण का आधिक्य है, वहीं ब्राह्मण हुए हैं, जहाँ सत्त्वगुण का आधिक्य है, पर रजोगुण के साथ जरा सम्बन्ध है, वहाँ क्षत्रिय हैं। यह सब क्रिया-कलाप से होता है। इसके साथ तमोगुण का योग है, सत्त्वगुण कम है, रजोगुण अधिक है। इसके बाद तमोगुण है, यह वैश्य है। तमोगुण की प्रधानता है और सत्त्वगुण को इतना ढँक दिया है कि वह प्रकट नहीं हो पा रहा है, यही है—शूद्र। पशु-पक्षियों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होते हैं। पशुओं में सिंह को ब्राह्मण कहा जाता है,

क्योंकि उसमें सत्त्वगुणों की प्रधानता है। वह हिंसा करता है, इसलिए नहीं, उसमें विशेषता है। इसीलिए सिंह पशुपति और भगवती का वाहन है। इसी प्रकार देवताओं की स्थिति है। इन्द्रादि देवता क्षत्रिय हैं। ब्रह्मा, बृहस्पति ब्राह्मण हैं। जिन्हें विश्वदेव, गणदेव, विश्वेदेवा कहा जाता है, वे वैश्य हैं, जब कि सभी अयोनिज हैं। यह सब गुणों के तारतम्य के कारण है। जहाँ गुणातीत है, वहाँ कोई प्रश्न नहीं है।

बहरहाल, सहजभाव से अर्थात् जो स्थान स्वाभाविक सत्त्वगुणप्रधान है, उसी प्रकार साधारण रूप से किसी निमित्त के कारण वह स्थान सत्त्वगुणप्रधान हो गया है। जिन स्थानों पर ऋषि लोग तपस्या कर चुके हैं, तपस्या के कारण विशेष तपस्या का तेज लम्बे अर्से तक वहाँ व्याप्त रहता है। जो लोग उच्चतर शक्ति आहरण करते हैं, उस स्थान पर दीर्घकाल तक उनकी शक्ति बनी रहती है। बुद्धदेव ने जिस स्थान पर तपस्या की थी, जहाँ पर उपदेश दिया था, जहाँ पर ज्ञान-संचार या दीक्षा आदि देते रहे, वे सभी स्थान आज भी पवित्र हैं। जिन लोगों में शक्ति अनुभव करने की क्षमता है, अगर वे उस स्थान पर बैठें तो अपने भीतर उसे पा सकते हैं। बुद्धगया में कितनी विशेष शक्ति है, जो लोग वहाँ जाकर ध्यान कर चुके हैं, इसे वे अनुभव कर सकते हैं। स्थान का प्रभाव, उस स्थान का स्वाभाविक प्रभाव नहीं, बल्कि जहाँ किसी पुरुष ने तपस्या पूर्ण की थी, रहता है। उनका शरीर चला गया है, जगह चली गयी है, मिट्टी चली गयी है, वह स्थान रह गया है, वह वातावरण रह गया है। उसी वातावरण के सूक्ष्म स्तर में पूर्व शक्तियाँ क्रियाएँ करती हैं। फलतः अगर कोई वहाँ जाकर उन्मुक्त भाव से बैठे यानी ओपेन भाव रहे तो उसकी क्रियाएँ होंगी, उसका स्पन्दन प्राप्त होगा। सभी जगह ऐसी स्थिति है।

इसी प्रकार जिन स्थानों में देवताओं की लीलाएँ हुई हैं, कोई देवता नररूप में आकर लीला कर चुके हैं, उस दिव्य शक्ति का प्रभाव वहाँ के वातावरण में रह गया है। इसके भीतर अनेक सूक्ष्म स्तर हैं। अगर यह न होता तो आकाश और वायुमण्डल के भीतर उक्त सूक्ष्म स्तर के अनुसार इस वातावरण का तारतम्य न होता। यह है परिवेश, वातावरण—अति सूक्ष्म। जब तक महाप्रलय नहीं होगा तब तक वह चीज पूरी तरह से नहीं जायगी। बाहरी आवरण भले ही नष्ट हो जाय, पर सूक्ष्म आवरण के अन्तराल में वह चीज रह जाती है। अगर यह भी हट जाय तो इसके भीतर जो है, वह रह जायगी। जब नहीं रहेगी तब सृष्टि का नाश हो जायगा—महाप्रलय होगा। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक वह चीज सर्वदा रहेगी।

जिन लोगों की दृष्टि खुल गयी है, अगर वे इन स्थानों को देखें तो समझ जायेंगे। ऐसी अनेक जगहें हैं जिन्हें दग्ध कहा जाता है, वहाँ किसी तरह का अंकुर उत्पन्न नहीं होता। यह होता है तेज के कारण। इसी प्रकार उग्र तेज से जहाँ साधना

की जाती है, वहाँ का वातावरण उष्ण हो जाता है अर्थात् ऐसी जगह है जहाँ बीज अंकुरित होते हैं, कर्मबीज अंकुरित होता है। दूसरी ओर ऐसी जगहें हैं, जो ऊसर की तरह हैं। माँ (आनन्दमयी माँ) जब १६२६ ई० में हरिद्वार गयी थीं तब मैं भोला गिरि की धर्मशाला में था। माँ भी वहीं थीं। माँ के साथ तीसरे पहर घूमने जाता था। एक जगह के बारे में उन्होंने कहा था कि वायुमण्डल के भीतर, सूक्ष्म के भीतर देखा गया है कि तपस्या और ज्ञान के फल से वह स्थान दग्ध हो जाता है, वहाँ कर्म के बीज उत्पन्न नहीं होते। यही वजह है कि ऐसे स्थानों को ज्ञानभूमि कहा जाता है। लोग सामान्य तौर पर इसे देख नहीं पाते।

महाप्रभु ने जब वृन्दावन आविष्कार किया था तब लोकनाथ गोस्वामी, रूप गोस्वामी, वल्लभाचार्य आदि तथा उनके शिष्यों ने भी अन्तर्दृष्टि के द्वारा उन लीला-स्थलियों का आविष्कार किया था। कहाँ, कौन-सी लीला हुई थी, उसके सूत्र वहाँ आज भी मौजूद हैं। श्रीकृष्ण की लीला पाँच सौ वर्ष की बात नहीं है। यह पाँच हजार वर्ष पहले की बात है। आज भी जो लोग देख पाते हैं, वे देखते हैं। आज भी सभी लीला-स्थान देखने में आते हैं। जिनके पास आँखें नहीं हैं, वे नहीं देख पाते। अगर मेरी आँखें खुलीं तो मैं देख पाऊँगा।

अच्छे-बुरे आदमी सर्वत्र हैं। इसके द्वारा तीर्थस्थानों का महत्व नहीं समझा जा सकता। अगर किसी समय साधु लोग तपस्या कर चुके हैं, देवताओं का आविर्भाव हुआ हो, भगवान् की लीला प्रकाश हुई हो, कोई अच्छा उपासक उपासना कर चुका हो तो उसका एक प्रकाश वहाँ अवश्य प्राप्त होगा। जिस प्रकार की क्रिया होगी, उसी प्रकार का प्रभाव रहेगा। कुछ तो स्वाभाविक रूप में रहेगा और कुछ नैमित्तिक रूप में। नैमित्तिक का मलतब है—निमित्तवश, जैसे कोई तपस्या कर रहा है, कोई निष्काम उपासना कर रहा है, वहाँ कोई देवता आ गये, ऊपर से कोई नित्यसिद्ध मनुष्य आकर कुछ दिन वहाँ रह चुके हैं या अन्य कोई लीला हुई है, ऐसी सभी बातों की छाप वहाँ अवश्य रह जाती है। सूक्ष्म छाप रहती है। Psychometry नामक एक विज्ञान है, जिसकी सहायता से बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं। मिस्त्र के एक पत्थर को देखकर यह समझा जाता है कि दस हजार वर्ष पूर्व किसने क्या किया था। यह पत्थर कहाँ से आया है, उसी प्रकार एक पत्र देखकर मनुष्य की प्रकृति कैसी है, उसका क्या नाम है, कहाँ रहता है, आदि बातें मालूम हो जाती हैं।

असली बात यह है कि सूक्ष्म रूप में संस्कार रह जाता है। जितने सूक्ष्म संस्कार हैं, खासकर आध्यात्मिक संस्कार—यह सब अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अतएव स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होने पर भी वह चीज नहीं होती। वस्तु रह जाती है। भिन्न-भिन्न कारणों से जो कुछ होता है, वह नैमित्तिक होता है। एक बात और है,

जहाँ स्वाभाविक कहा है, वहाँ समझने लायक बात है। जिस प्रकार भगवान्, किसी महापुरुष या विशिष्ट व्यक्ति का अवतार इस पार्थिव जगत् में विशिष्ट कार्य के लिए होता है, उसी प्रकार भगवान् या महापुरुष के लीलाक्षेत्र—जो कि ऊर्ध्वस्तर में हैं, उनका भी अवतार होता है। केवल भगवान् का ही अवतार नहीं होता, भगवान् के शंख-चक्र का भी अवतार होता है। भगवान् के फूल और मालाओं का भी अवतार होता है। अवतरण होने का मतलब यहाँ यह है कि प्रकाश में पुनः आना। इसी प्रकार धामों का अवतरण होता है। हम लोग वृन्दावन या काशी कहते हैं, वह भी वही है।

काशी काल के ऊर्ध्व में है, देश के ऊर्ध्व में है। काशी इस स्पेस में नहीं है—'काशते तत्त्वं' मात्र, जहाँ निरन्तर तत्त्वों का प्रकाश हो रहा है, उसी का नाम काशी है। काशी में देहाभिमान नहीं रहता। जिनमें देहाभिमान है, अगर उनकी मृत्यु उस स्थान में हो जाती है तो वहाँ उस तत्त्व के आकर्षण से वे उस परम प्रकाश में चले जाते हैं। काशी-मृत्यु की बात सामान्य लोग समझ नहीं पाते। मनुष्य ने अनेक पाप किये और वहाँ जाकर मर गया तो उसकी मुक्ति हो गयी—यही एक प्रश्न लोगों के मन में उत्पन्न होता है। जो वास्तविक काशी है, उस काशी की एक महिमा है, स्थान की महिमा है। इसी प्रकार भावजगत् के भीतर ऐसे स्थान हैं, जहाँ एक बार मैं बाह्य भाव से मुक्त हो जाऊँ—बहिर्मुख भाव को त्यागकर जो सम्भव होता है—और अन्तर्मुख हो जाऊँ तो साथ ही साथ भाव-राशियाँ उन्मुख होकर उसे पकड़ लेंगी यानी वह भाव उसे उठा ले जायगा। यही वजह है कि स्थान का एक प्रभाव अलग प्रकार का होता है। जिसका मन अन्तर्मुख नहीं है, संवेदनशील नहीं है, वह इसे अनुभव नहीं कर सकता।

जब सृष्टि होती है तब ऊर्ध्वलोक से सभी स्तर नीचे उतर आते हैं। इसकी चर्चा स्वच्छन्द आगम में है और अभिनवगुप्त ने अच्छी तरह विश्लेषण किया है। हम लोग काशी, मथुरा, कनखल, भुबनेश्वर, गोकर्ण, अवन्ती कहते हैं, आखिर यह सब है कहाँ ? एक विशिष्ट स्थान है, हम यही जानते हैं। सवाल यह नहीं है, यह उनका अपना स्थान नहीं है। यह सब ऊर्ध्वलोक से आये हैं। छप्पन भुवन तो ऊपर हैं। वहाँ से आ गये हैं—कोई तेजस्तत्त्व का भुवन, कोई वायुतत्त्व का भुवन, कोई आकाशतत्त्व का भुवन है, इस प्रकार के तत्त्वों के भुवन हैं। एक-एक तत्त्व के सहारे अनेक भुवन हैं, अनेक धरातल (Planes) हैं। इनमें से कोई-कोई Plane इस जगत् में आया है। भगवान् की सृष्टि की यही महिमा है कि किसी भी समय जब मनुष्य का मन अन्तर्मुखी होगा तथा उन्हें पाने और चित्त-शुद्धि के लिए प्रयत्न करेगा तब इन सभी स्थानों से सहायता प्राप्त करेगा। जिनके चित्त अन्तर्मुख नहीं हैं, उनके निकट जैसे अन्य जगह है, उसी प्रकार यह जगह भी है। लेकिन जिनमें अन्तर्मुख भाव है, वे इन स्थानों से सहायता प्राप्त कर लेंगे। इसीलिए ऊर्ध्वलोक के तेज को अधोलोक में संचार कर दिया गया है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि इनकी जब सृष्टि हुई तब सृष्टि के साथ-साथ इन्हें शुद्ध चीजें मिली हैं। जो शुद्ध हैं, उनकी अपनी विशिष्टता है। भगवत्-तत्त्व जब जगत् में आता है तब वह नाना रूपों में अपना प्रकाश फैलाता है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के साथ प्रत्येक व्यक्ति का पार्थक्य है, यह विशिष्टता बनी रहती है। जैसे काशी तो शुद्धतत्त्व है, यह वहीं से आया है, मथुरातत्त्व गोकुलतत्त्व के भीतर है। वृन्दावन नया नाम है, यह अधिक प्राचीन नहीं है। गोलकतत्त्व के भीतर गोकुलतत्त्व है, इसके भीतर माथुर मण्डल, माथुर मण्डल के भीतर श्वेतद्वीप है, इसी श्वेतद्वीप के भीतर से आये हैं साकेत, जिसे हम लोग अयोध्या कहते हैं, उसका भी अपना एक अलग स्थान है। सभी चीजों का नित्य धाम में अपना स्थान है, प्रपंच के ऊर्ध्व में। यह सब गुणमय वैचित्र्य हैं। रजोगुण, तमोगुण नहीं है, पर सत्त्वगुण है।

सत्त्वगुण से कहीं अधिक अनन्त विचित्रमय जगत् है, जहाँ फूल है, फल है, नदी है, पहाड़ है, सब है। वहाँ क्या नहीं है, कैसे बताऊँ? लेकिन यहाँ की तरह नहीं। यह परिणामशील, रजोगुण, तमोगुणमिश्रित और काल के अधीन है। लेकिन वह काल के अधीन नहीं है और न रजोगुण-तमोगुणमिश्रित है, इसीलिए विशुद्ध है। सभी चीजें हैं, पर विचित्र है। गुलाब भी सुन्दर है और कमल भी, पर गुलाब का सौन्दर्य एक तरह का है और कमल का दूसरे प्रकार का। अगर यह वैचित्र्य न रहे तो जगत् में आनन्द कैसे आये? हमारे पार्थिव जगत् में उक्त विचित्रता जिससे स्पष्ट हो जाय, इसीलिए सृष्टि के समय ही शुद्ध सत्त्व के प्रधान स्थानों को भगवान् ने दिया है। पहले ही बता चुका हूँ कि वृक्ष, लता, पत्तियों में भी जिस प्रकार सात्त्विक, राजसिक, तामसिक हैं, ठीक उसी प्रकार यह भी है। गुरु को हम लोग भगवती समझते हैं, पर जो लोग नहीं जानते, वे गुरु को सामान्य पशु समझते हैं। किन्तु हम यह जानते हैं कि उनकी कितनी महिमा है और इस बात को हम वैदिक-युग से जानते हैं। इसी प्रकार पशुओं की अपनी एक विशिष्टता है, भले ही गुरु की तरह न हो, पर एक आदर्श उनमें है।

इसी प्रकार प्रत्येक स्थान की विशेषता है। किसी स्थिान में स्वाभाविक रूप से भाव का विकास हो सकता है और किसी स्थान में प्रेम का विकास हो सकता है, किसी स्थान में ज्ञान का विकास हो सकता है और किसी स्थान में योगसिद्धि का विकास हो सकता है। मान लीजिये, एक त्रिकोण है, जिसे हम लोग विंध्याचल कहते हैं, वह त्रिकोणस्थान है। कामरूप कामाख्या भी त्रिकोणस्थान है, जब कि कामरूप कामाख्या में जो क्रिया होगी, वह विंध्याचल में नहीं होगी। विंध्याचल में जो क्रिया होगी, वह कामाख्या में नहीं होगी। कामाख्या में पुरश्चरण या जगाने के लिए जो क्रियाएँ होंगी, वह अन्यत्र नहीं होंगी। कामरूप एक प्रसिद्ध पीठ है, इसीलिए वह प्रसिद्ध है। विंध्याचल में प्रपंच से बाहर जाने के लिए, हट जाने के

लिए वहाँ दरवाजे हैं। विंध्याचल का मध्यबिन्दु ही विंध्यवासिनी है। वह जो बिन्दु है, उस बिन्दु से त्रिकोण में जा सकता है। ऐसा कामरूप कामाख्या में नहीं है, पर इस बात को साधारण लोग नहीं जानते। स्थान की एक विशेषता होती है। प्राचीन मुनि-ऋषि एवं भगवान् जितने रूपों में ज्ञान देने के लिए प्रकट हुए हैं, सभी इस बात को स्पष्ट रूप से कह गये हैं। इसे बकवाद नहीं समझना चाहिए। यह अनुभव की बातें हैं। बिना अनुभव के इसे नहीं जाना जा सकता।

यह स्पष्ट हुआ कि स्थानों में एक स्वाभाविक विशेषता है, उसी प्रकार नैमित्तिक कारण से विचित्र बन गया है और यही विशिष्टता बराबर चली आ रही है, जब तक महाप्रलय नहीं होता। इन्हीं दो कारणों से स्थान की विशिष्टता होती है और इस विशिष्टता से जो लोग साधक हैं, वे उपकृत होते हैं।

तीर्थयात्रा के बारे में पौराणिकों ने कहा है कि जब यज्ञ होते थे और काफी होते थे, उस समय अग्निहोत्र थे, तब तीर्थयात्रा की परम्परा नहीं थी। धीरे-धीरे यज्ञ-कार्य समाप्त हो गया, खासकर कलियुग के प्रारम्भ के समय—द्वापर तक यज्ञ होते थे, कलियुग में आवश्यकतानुसार अनूठे यज्ञ होते थे, अधिक नहीं हुए हैं, इसीलिए जीवों के उद्धार के लिए उनका हृदय आकुल था—इसे वे कर नहीं पा रहे हैं, इन्हें कोई रास्ता देना चाहिए। अगर मनुष्य तीर्थयात्रा ठीक से करे तो उसे यज्ञ का फल मिलता है, इसीलिए तीर्थों का एक उद्देश्य है। मैं तत्त्व की बातें कह रहा हूँ। लौकिक बातें बाद में बताऊँगा। कैसे तीर्थयात्रा करनी चाहिए—कैसे जाना चाहिए, मन कैसा रखना चाहिए—यह सब साधारण बातें हैं। इसे सभी जानते हैं। अब असली बातें बता रहा हूँ।

तीर्थयात्रा का एक विज्ञान है। सभी बातों को लेकर नररूप में कल्पना करनी पड़ती है। जैसे न्यास किया जाता है। मनुष्य चाहे जिस रूप में न्यास करे, तांत्रिक और पौराणिक—इसका उद्देश्य क्या है? किसी देवता या स्थान के प्रति करता है। स्थान, देवता के न्यास हैं और शक्ति का भी। न्यास का अर्थ है—सुपर इम्पोजिशन अर्थात् शरीर के किसी अंश में शक्ति की स्थापना करना या किसी देवता को स्थापित करना या किसी तत्त्व की स्थापना करना। स्थापना करने का अर्थ है, मन में भावना करना—यहाँ यह चीज है। भावनाशक्ति के माध्यम से उस शक्ति की कल्पना करना। इस धारणा को प्रयत्न करके लाना।

इसी प्रकार अगर अपने शरीर में अगर किसी देवता को न्यास किया जाय तो देखोगे कि पैर के अँगूठे से लेकर सिर के बालों के अग्रभाग तक सर्वत्र देवता हैं। जब मातृका का न्यास करूँगा तब देखने में आयेगा कि पैर के अँगूठे से लेकर केशाग्र तक सर्वत्र वर्णमालाओं से सजे हैं अर्थात् मनुष्य का रूप ले लिया है, मनुष्य की मूर्ति तैयार हो गयी है वर्णमालाओं के द्वारा। इसी प्रकार मानव की मूर्ति

तैयार हुई है, इन सभी तत्त्वों के द्वारा, इन सभी भावों के द्वारा। मानों मैं उसी देवता से बना हूँ, मैं उसी तीर्थगणों से बना हूँ। जो लोग विज्ञान के अनुसार तीर्थ करते हैं अर्थात् गुरु-परम्परा के अनुसार जितने तीर्थ हैं, उन्हें उसी रूप में आरम्भ करना चाहिए।

तीर्थों में एक कर्मक्षेत्र है तो दूसरा ज्ञानक्षेत्र और इन दोनों के मध्य है—भावक्षेत्र। प्राचीनकाल में कर्मक्षेत्र को लोग कुरुक्षेत्र कहते थे। 'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं कुरुक्षेत्रे विनश्यति। कुरुक्षेत्रे कृतं पापं वाराणस्यां विनश्यति। वाराणस्यां कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥'—यही कहा गया है। अगर कोई काशी जाकर पाप करे तो क्या होगा ? होगा—'वाराणस्यां कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति', कारण, ज्ञान के बाद कुछ नहीं है। ज्ञानकृत जो पाप होता है, उसका विनाश नहीं होता। आखिर इस पाप का विनाश कब होता है ? काशी में मृत्यु होने पर, तब उसे अनुशोचना होगी। एक भोग होगा, पाप का दण्ड वह पायेगा, पर स्थान की महिमा के कारण जहाँ दीर्घकाल तक होना था, वहाँ कम दण्ड प्राप्त करेगा। तत्त्व की दृष्टि से अज्ञानकृत पाप तीर्थयात्रा में नष्ट हो जाते हैं। यही वजह है कि गृहस्थों के लिए एक विधान दिया गया था। सभी लोग तीर्थयात्रा अवश्य करें। दूसरी ओर यह भी कहा गया था कि तीर्थों में भी पाप होते हैं। इसके जवाब में बताया गया कि काशी जाकर उसे नष्ट कर डालो, इसीलिए ऐसे विधान बनाये गये थे।

तीर्थों में जाकर ठीक ढंग से तीर्थ कर सकें, सात्त्विक भाव से, सदाचार-परायण होकर, मन में सद्भाव रखते हुए तीर्थ की अधिष्ठात्री देवी का ध्यान करते हुए तीर्थ करें तो तीर्थ उसके प्रति प्रसन्न होता है। तब उसे जो कुछ देने लायक है, अपनी ओर से देता है अर्थात् चित्त-शुद्धि होती है। जिस तीर्थ की जितनी शक्ति है, वह उतना ही करता है। मनुष्य तीर्थ किसलिए करता है ? पाप-ताप-प्रक्षालन के लिए। प्राचीन काल के लोगों ने कहा—तीर्थस्थान पवित्र होते हैं, स्वभाव-सिद्धरूप में पवित्र हैं। इस पवित्रता को स्मरण करते हुए अगर कोई उस स्थान पर जाता है और वहाँ अपना कृत्य करता है तो पाप से मुक्ति मिल जाती है। ठीक इसी प्रकार किसी क्षेत्र में अगर कोई पाप-आचरण करता है तो वह अज्ञानतावश हो गया। कारण, ज्ञान न आने तक अज्ञान माना जाता है। लेकिन अज्ञान के पूर्व भी कर्म है, शुद्ध कर्म। इसीलिए इस क्षेत्र का नाम कुरुक्षेत्र है।

हमारे तीर्थस्थानों की एक सार्थकता है, जिसकी व्यवस्था हमारे आचार्यों ने प्राचीनकाल से ही कर रखी है। एक बात और है, सभी तीर्थ भिन्न-भिन्न स्थानों में हैं, जैसे काशी कहाँ है ? भौंहों के मध्य में। नाभि के नीचे कामाख्या, हृदय के बायीं ओर साकेत, अयोध्या। सहस्रदल कमल के मध्य वृन्दावन, गोकुल—सहस्रपत्रं गोकुलं—इसी प्रकार सभी तीर्थ हैं। ये सभी अन्तस्तीर्थ हैं यानी देह के भीतरवाले तीर्थ। इससे यह स्पष्ट हुआ कि मेरा समस्त शरीर ही तीर्थमय है। मनुष्य-

शरीर में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जो तीर्थशून्य हो। सर्वत्र तीर्थ हैं। अतएव जो लोग ज्ञान-मार्ग पर चलते हैं, वे तीर्थयात्रा करते हैं। जैसे जो लोग बाहर जाकर स्नान करते हैं, वे अपना करते हैं और जो लोग उच्चाधिकारी हैं, उन्हें स्नान करने की जरूरत नहीं होती। ऐसी हानिकारक व्यवस्था है। जैसे पानी बन्द हो गया, पर स्नान बन्द नहीं हुआ। गंगा में या बाहरी पानी से स्नान करना बन्द हो सकता है, पर भीतर स्नान किया जा सकता है। मन्त्र-स्नान है, यह भी स्नान है; मिट्टी से स्नान करना, यह भी स्नान है; वायु से स्नान, भस्म से स्नान, यह भी एक प्रकार से स्नान है। शैव-अवधूत लोग भस्म से स्नान करते हैं। अब सवाल यह है कि श्रेष्ठ स्नान कौन-सा है ? जब सहस्रार से, वह जो मध्यबिन्दु है, उस बिन्दु का क्षरण होता है यानी उक्त चिद्भूमि, जो कुण्डलिनी के अधीन है तब सुषुम्ना के बीच से ऊर्ध्वमुखी हो जाता है, फिर आगे सहस्रार के चन्द्रबिन्दु को स्पर्श करता है, तब वह गल जाता है। गल जाने पर वहाँ से स्राव होता है और नीचे गिरता है। नीचे गिरते-गिरते अपने जितने तत्त्व हैं, जितने कोष हैं, जितनी मातृकाएँ हैं, जितने परमाणु हैं, जितने उपादान हैं, उसके द्वारा शोधित हो जाते हैं। सारा शरीर क्षालित हो जाता है और बाहर वह देख पाता है कि स्नान कर आया, जब कि जल का स्पर्श तक नहीं किया। सब कुछ निर्मल हो जाता है। बाहर और भीतर दोनों निर्मल हो जाते हैं। मुख्य स्नान वही है, जिसे मुक्तिस्नान कहते हैं, यह वही है। यथार्थ कुण्ड भी वही है।

वास्तव में तीर्थ अगर करना है तो अपने शरीर में किया जा सकता है। इसके लिए बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। अगर भौंहों के ऊर्ध्व चढ़ा जा सके तो वहाँ काशीगति प्राप्त हो जाती है। अगर वहाँ अहंबुद्धि-देहाभिमान का त्याग हो जाय तो उसी का नाम काशी-मृत्यु है—यह कोई नयी बात नहीं है। यह पद्धति तो साधारण लोगों के लिए है, जिन्हें योग के द्वारा प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। यह सुविधा वे लोग पा सकते हैं और ज्ञान के द्वारा, भले ही वे कहीं भी रहते हों—वहीं उन्हें काशी-मृत्यु प्राप्त हो सकती है। गीता में उन्होंने कहा है—'प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव। भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥'

साधारण लोगों के लिए एक स्थान विशेष है और उक्त स्थान के तेज को अवलम्बन करते हुए अगर मृत्यु हो जाय तो काशी-मृत्यु होगी। असाधारण अर्थात् ज्ञानी या भक्तों के लिए काशी-मृत्यु तो अवश्यम्भावी है। स्थान की एक महिमा होती है। यह एक सत्य है, जो भीतर है और बाहर भी। बाहर है सर्वसाधारण के लिए और अत्यन्त अनधिकारी, पर भगवान् की कृपा के अधीन है, उनका शरणागत है तो उसके लिए भी प्रबन्ध है। यह भीतरवाली बात है।

यह देह तीर्थमय है। हम लोग जिसे भारतवर्ष कहते हैं, वह भी समस्त तीर्थों से घिरा हुआ है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, कन्याकुमारी तक सभी तीर्थ-भूमि है। यही वजह है कि प्राचीन आचार्यों ने यह नियम बनाया था कि कन्याकुमारी से लेकर पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण सभी तीर्थों से सम्बन्ध बनाये रखो, ताकि एक शुद्ध तेज का संरक्षण किया जाय, उसे चालित किया जाय। इसके लिए सारा इन्तजाम किया गया था। यही है तीर्थ के बारे में साधारण बातें।

एक और साधारण नियम यह है कि किस तीर्थ के बाद किस तीर्थ में जाना चाहिए। आचार्यों का कहना है कि कामाख्या से आरम्भ करना चाहिए। एक धारा के अनुसार मैं कुछ कहना चाहूँगा। जिस प्रकार शरीर में तीर्थ सजाये गये हैं, उसी प्रकार बाहर व्यष्टि और समष्टि में अनुगत हो सकता है। एक के बाद एक तीर्थ करना चाहिए। कामाख्या से प्रारम्भ कर मायापुर तक, इसके बाद हिमालय के ऊपर कैलास तक जहाँ सहस्रदल कमल का बिन्दु है। इस प्रकार सहस्रदल तक वह जायगा। यह बाहरी सहस्रार है, ऐसी व्यवस्था है। यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। विशेष गुरुजनों के आदेश या निर्देश के अलावा सभी के लिए सम्भव नहीं है और न इसे हर कोई जानता है। प्रत्येक तीर्थ में अन्य सभी तीर्थों की सम्भावना है। जैसे हम लोग कहते हैं कि काशी में सभी देवता हैं, सभी तीर्थ हैं। काशी में प्रयाग घाट, कुरुक्षेत्र, दुर्गा मन्दिर, कामाख्या है। काशी में सिगरा यानी श्रीगिरि—श्रीशैल है, काशी में सब कुछ है। केवल काशी में ही नहीं, सभी तीर्थों में सब कुछ है। काशी की खूबी यह है कि अति उज्ज्वल रूप से समझने लायक स्थान है, पर अन्य स्थानों में यह बात नहीं है। खोज करने पर अन्यत्र ऐसे स्थान अवश्य मिलेंगे। फलतः किसी तीर्थ में जाकर अन्य किसी तीर्थ के नाम पर कुछ उत्सर्ग करने पर सभी को अर्पण हो जाता है।

अब सवाल यह है कि तीर्थ-गमन या तीर्थयात्रा कैसे करनी चाहिए ? इसका विवरण सूक्ष्म रूप से बता रहा हूँ। प्राचीन काल में यह नियम था कि पहले संयम करना चाहिए, इसके बाद संयत भाव से लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिए। कुछ अन्य नियम हैं। झूठ मत बोलना, मिथ्या चिन्ता न करें, अन्य कोई चिन्ता न करें, घर-गृहस्थी की चिन्ता न करें। जिस तीर्थ की ओर जा रहे हैं, केवल उसी की चिन्ता करें। घर-द्वार, बाल-बच्चे छोड़कर जा रहा हूँ, सबको भूल जाना पड़ेगा। पहले लोग पैदल ही यात्रा करते थे। सभी बातों को भूलकर अधिष्ठात्री देवता की चिन्ता करनी चाहिए। अन्य लोगों से उतनी ही बातें करें जितना आवश्यक है। बाकी समय मन-प्राण इष्ट की ओर लगाये रहें। इष्ट का अर्थ है तीर्थ के देवता—जिस तीर्थ में जा रहे हैं। जैसे मान लो, मैं बदरीनारायण जा रहा हूँ। चलते-चलते अन्त तक बदरीनारायण तक नहीं पहुँच सका। अगर मैं वास्तव में तीर्थयात्री हूँ तो जब से मैं रवाना हुआ हूँ, मेरी दृष्टि में बदरीनारायण हैं, उन्हीं का ध्यान करते

हुए चल रहा हूँ, अगर अन्त तक वहाँ पहुँच नहीं सका तब जहाँ मेरा शरीरान्त हो जायगा, वहीं बदरीनारायण के दर्शन होंगे। उन्हीं को लक्ष्य करके चल रहा हूँ, मैं वहाँ तक पहुँच नहीं सका—यह कोई सवाल नहीं है।

यहाँ एक घटना का उल्लेख कर दूँ। आज से ३०-४० वर्ष पहले की बात है, पारुल नामक एक महिला थीं। वे काशी में रहती थीं। उनमें कुछ अस्वाभाविक स्थिति थी। अक्सर देव-देवी का दर्शन कर लेती थीं। उन्हें देव-वाणी सुनाई देती थी और भी कुछ पाती थीं। उन्होंने मुझे एक कहानी सुनाई थी। उनकी एक बुआ थीं। वे काशी में मरने के लिए व्याकुल हुई थीं, पर उनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। इच्छा रहते भी वे काशी नहीं आ पायीं। एक दिन की घटना की चर्चा करती हुई वे बोलीं कि बंगाली टोला में एक जगह काशीखण्ड का पाठ हो रहा था। उस जगह वे उपस्थित थीं। सहसा उनकी दृष्टि एक ओर गयी, जहाँ उनकी बुआ मौजूद थीं। यह दृश्य देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। उनकी काशी आने की आकांक्षा थी। लगता है, अब कोई सुविधा प्राप्त हो गयी है। पाठ समाप्त होने पर उन्होंने गौर किया कि बुआजी बैठी हैं, अन्य लोगों के व्यवहार से ऐसा लगा, जैसे उन्हें कोई देख नहीं रहा है। उन्होंने बुआ से पूछा—'मैं आपको देख रही हूँ, कोई भूल तो नहीं है?' उत्तर में बुआ ने कहा—'नहीं, भूल नहीं देख रही हो। मैं ही तुम्हारी बुआ हूँ।' तब उन्होंने पूछा—'अब काशी में आप आ गयी हैं?' बुआजी ने कहा—'मैं विदेह अवस्था में हूँ। मृत्यु के समय मेरा प्राण भयानक व्याकुल हो गया था—विश्वनाथ-दर्शन के लिए। मन ही मन कहती रही—हे विश्वनाथ, तुम्हारा दर्शन नहीं कर पायी। तभी देखा—सामने विश्वनाथ और काशी है।' आगे आपने यह भी कहा—'विश्वनाथ की कृपा से काशी-मृत्यु हुई है और विश्वनाथ की काशी में स्थान प्राप्त हुआ है।'

यह कैसे सम्भव हुआ? शिव पर इतनी तीव्र भक्ति थी कि शिव ने बाह्यत: आकांक्षा पूर्ण न करने पर भी भीतर से पूर्ण कर दिया था। यह सब कहने का उद्देश्य यह है कि सभी चीजें हैं, पर उसे पाने के लिए भावना की जरूरत है। उस भाव से न माँगने पर उन्हें पाया नहीं जा सकता। जो उन्हें उस रूप में चाहेगा, पायेगा। जब तक उस भाव से नहीं पकड़ोगे तब तक नहीं पाओगे।

तीर्थयात्रा के लिए एक लक्ष्य रखना चाहिए। मैं कामाख्या जा रहा हूँ तो कामाख्या की अधिष्ठात्री देवी की चिंता करूँगा। जब काशी आऊँगा तब विश्वनाथ की चिन्ता करूँगा, क्योंकि वे काशी के अधिष्ठाता हैं। जब मथुरा जाऊँगा तब मथुरा के अधिष्ठाता वासुदेव की चिन्ता करूँगा। वृन्दावन जाने पर वृन्दावन के नन्दन श्रीकृष्ण की चिन्ता करूँगा अर्थात् एक भाव से अन्य एक भाव में जा रहा हूँ। तीर्थ में जाकर तीर्थ के देवता की चिन्ता करते हुए उन्हें प्रणाम करना चाहिए। परिक्रमा करनी चाहिए। जब उनके साथ अभेद हो जाय तब अन्य तीर्थ में जाना

चाहिए। देह सर्वभावमय है। सभी भावों का शोधन मैं कर रहा हूँ, इसीलिए जब जहाँ जाऊँ, वही मेरा लक्ष्य हो। सभी तीर्थों में जाकर वहाँ के तेज को लेना चाहिए। सभी तीर्थों की जो चीजें मेरे आन्तर देह की रचना के लिए आवश्यक हैं, अगर उन सभी को अपना सका तो मेरा देह ही तीर्थमय हो जायगा। जो लोग शास्त्रीय क्रिया नहीं कर सकते, यज्ञ-अनुष्ठान नहीं कर सकते, वे अगर तीर्थों की सेवा सात्त्विक नियमानुसार कर सकें तो उनका अन्तर शुद्ध हो जाता है । यही है तीर्थ का विधान।

●

२१
शंकराचार्य कृत दक्षिणामूर्ति स्तोत्र

इन श्लोकों में गुरु का स्वरूप तथा कृत्यों की व्याख्या करते हुए गुरु को आत्मनमस्कार-निवेदन किया गया है। इस विषय को विशेष रूप से समझने के लिए गुरु और शिष्यरूपी जीव तथा विश्व के स्वरूप को समझना पड़ेगा। साधारण जीव विश्व को हर प्रकार से अपने से अलग देखता है और अपने को सबसे पृथक् देखता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि यह विश्व प्रत्येक जीवात्मा के अन्तर में भासमान रहते हुए भी बाह्य रूप में अनुभूत होता है। इसका कारण है—अविद्या का प्रभाव। वास्तव में विश्व जीव के बाहर नहीं है। जीव जब गुरु की कृपा से प्रबुद्ध हो सकेगा तब वह समझ पायेगा कि विश्व वास्तव में उसके बाहर नहीं है। जिस प्रकार आईने में अपनी आकृति दिखाई देती है, इसी प्रकार अविद्या या अज्ञान के कारण यह विश्व प्रत्येक आत्मा में, निज रूप में विद्यमान रहने पर भी आत्मा ही विश्व को बाहर देखता है। इसका मूल कारण है अज्ञान का प्रभाव। जब अज्ञान दूर हो जाता है तब विश्व को बाहर नहीं देखता। उस वक्त वह देखता है कि बाहर कुछ नहीं है। सब कुछ आत्मा के भीतर है और उसमें प्रकाश हो रहा है। माया के प्रभाव के कारण लगता है, जैसे यह बाहर है। लेकिन साक्षीरूप में अपने स्वरूप का निरीक्षण करने पर इसकी सचाई का निर्णय हो जाता है। जीव साधारण तौर पर अपने को इस अवस्था में नहीं ला सकता। जीव अनादि काल से सुषुप्त रहता आया है। जब अनादि काल का सुषुप्त भंग होगा तथा वह प्रबुद्ध होगा तब वह साक्षी-अवस्था प्राप्त कर सकेगा। यही है जागरण। जागने पर वह स्वयं ही आश्चर्यचकित होकर अपने-आपको देखेगा। इस जागरण को जो सम्पन्न कर देते हैं, उसी को गुरु कहा जाता है। जब गुरु द्वारा आत्मजागरण सम्पन्न होता है तब देखने में आता है कि अद्वैत आत्मस्वरूप में तैर रहा है। जिनकी कृपा से यह विचित्र लीला संघटित होती है, उन्हें गुरु कहा जाता है। उन्हें नमस्कार।

इस विराट् सृष्टि के भीतर अनन्त विचित्रताएँ हैं। जीव-जगत् और पदार्थगत अनन्त भेद हैं। यह सृष्टि के पूर्व था और सृष्टि के बाद भी है। सृष्टि के पूर्व आत्मा

अथवा ब्रह्म में संसार की प्रत्येक वस्तु थी, उस समय माया के प्रभाव से आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप से इस विचित्र जगत् का विकास नहीं हुआ था। यह जगत् आत्मस्वरूप में एक होकर विद्यमान था, बाद में माया के प्रभाव से उक्त निर्विकल्प सत्ता को सविकल्प रूप से सृष्टि के रूप में प्रकट किया गया। सृष्टि के पूर्व सभी बातें थीं। सृष्टि के बाद भी हैं। सृष्टि के पूर्व निर्विकल्प रूप में, पर सृष्टि के बाद नाना प्रकार के विकल्पों को लेकर प्रकट हुआ है। माया देश और काल की सृष्टि करती है। वास्तव में अतीत, अनागत और वर्तमान नामक कुछ नहीं है। दूर और पास भी कुछ नहीं है। निर्विकल्प-स्थिति में देश और काल की क्रिया नहीं होती। कालगत तारतम्य, जैसे वर्तमान, अतीत, भविष्य—यह सब निर्विकल्प-अवस्था में नहीं रहते। देशगत तारतम्य—यह अति निकट या काफी दूर—ऐसा नहीं रहता। सृष्टि के साथ माया के प्रभाव से देशगत, कालगत विचित्रताएँ होती हैं। गुरु की कृपा से जब माया तिरोहित हो जाती है, तब सभी नित्य वर्तमान तथा नित्य सन्निहितवत् इसी तरह प्रकट होता है। इसीलिए जो महाज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, उनके निकट कोई वस्तु दूर नहीं रहती। इच्छामात्र सब उपस्थित हो जाती हैं। देश-काल का व्यवधान माया से उद्भूत होता है। माया की निवृत्ति गुरु की कृपा से होती है। इसी गुरु का नाम है—सद्गुरु।

शंकराचार्य ने कहा है—

वास्तव में गुरु के कार्य महायोगी की तरह हैं। महायोगी जिस प्रकार अपनी इच्छानुसार सभी चीजों को प्रकट कर सकते हैं, सद्गुरु भी उसी प्रकार सब कुछ अपने भीतर से उत्पन्न कर सकते हैं अर्थात् ईश्वरभाव प्राप्त न होने पर सद्गुरुभाव प्राप्त नहीं हो सकता। सद्गुरु महायोगी की तरह होते हैं।

वेद और गुरु दोनों को जानना आवश्यक है। वेद अनादि, अनन्त, नित्य और वर्तमान है। वेद से जो सद्वाक्य निकलते हैं, वे ही सद्गुरु हैं। पूर्ण गुरुवाक्य 'तत्त्वमसि' वेदवाक्य लोक-लोकान्तर, मुनि-ऋषि के अतीत है। यह न सोचें कि वेद एकमात्र पुस्तक है। अखण्ड ज्ञानराशि ही वेद है। वेद साधारण लोगों के निकट बोधगम्य नहीं होता। गुरु इसका मन्थन कर जीवोद्धार का मार्ग बताते हैं। श्रीदक्षिणामूर्तिस्वरूप श्रीगुरुदेव का स्मरण करता हूँ।

गुरु का स्वरूप कैसा है उसे बता रहा हूँ। बहुछिद्रविशिष्ट घट में अवस्थित विराट् प्रदीप प्रभाववशतः उज्ज्वल तथा भास्वर ज्ञान जिसके चक्षुरादि करणवर्ग को आश्रय कर बहिर्गत होकर स्पन्दित होता है, उसी स्पन्दन का नाम प्रकाश या ज्ञान है। आत्मस्वरूप का प्रकाशमान ज्ञान ही आदिज्ञान या प्रकाश है। इसका अनुकरण कर अर्थात् इस प्रकाश से प्रकाशमान होकर समग्र विश्व प्रकाशमान होता है। इससे यह समझ में आता है कि गुरु का स्वरूप जिन्हें दक्षिणामूर्ति कहा गया है,

ज्ञानस्वरूप तथा आत्मा का स्वभावसिद्ध धर्म है। ज्ञानरूप में 'मैं जानता हूँ' इस आकार को अवलम्बन करते हुए यह स्पन्दित होता है। यही ज्ञान या प्रकाश अनुकरण कर समग्र विश्व प्रकाशित होता है। ज्ञानरूपी दक्षिणामूर्ति गुरुतत्त्व की यही महिमा है।

देह, प्राण, इन्द्रियवर्ग, बुद्धि आदि शून्यरूप में वर्णित होने लायक हैं। स्त्री, बालक या मूर्ख, अंध-सदृश भ्रांतिवश अहं-अहं कहते हैं। यह महामाया का मोह है। माया-शक्ति के विलास के द्वारा जो महामोह कल्पित है, उसका पालन करने में एकमात्र श्रीगुरुमूर्ति समर्थ है, जिसे दक्षिणामूर्ति कहा जाता है। इस श्लोक में कहा गया है कि गुरु अपने ज्ञान तथा शक्ति के द्वारा महामोह को नष्ट कर देते हैं। महामोह माया-शक्ति की लीला से उत्पन्न होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु ही माया-शक्ति द्वारा प्रसूत महामोह का नाश कर सकते हैं।

ग्रहण के समय राहु सूर्य या चन्द्रमा को ग्रास करता है, इसी प्रकार माया जीव को आच्छन्न करती है। पुरुष सत्तामात्र है तथा करणवर्ग के उपसंहार के कारण सुषुप्त रहता है। पहले मैं अब तक सुप्त था—इस भाव को लेकर वह जाग उठता है। यह गुरुरूपी ज्ञानशक्ति के प्रभाव से होता है। ऐसा जाग्रत्काल में होता है। इस जागरण का मूल कारण गुरुरूपी दक्षिणामूर्ति का प्रभाव है।

बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य अवस्था में, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि विभिन्न स्थितियों में यह सब परस्पर या व्यावृत्त स्थिति में जो अभिन्न रूप में अनुवृत्त रहता है, यह अहंभाव है। यही अहंभाव बालक, युवक, वृद्ध प्रत्येक के भीतर स्फुरित हो रहा है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति प्रत्येक अवस्था में यह स्फुरित होता रहता है। जो गुरुरूपी दक्षिणामूर्तिस्वरूप हैं, वे भक्तों में शुद्ध मुद्रा के द्वारा अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं। इस प्रकार की गुरुमूर्ति को नमस्कार। शरीर की विभिन्न अवस्था तथा स्थिति में, जाग्रत्-स्वप्नादि स्थिति में, सर्वत्र परस्पर भेद में यानी विभिन्न परिस्थितियों में, अहंरूप में जो अभिन्न प्रकाश करते हैं, उस गुरुमूर्ति, दक्षिणामूर्ति को नमस्कार। तात्पर्य यह है कि नाना प्रकार के भेदों के अन्तर्गत अहंरूप में अभिन्न ज्ञान गुरु-कृपा से ही सम्भव है। जो बालक है, वह भी अहं अनुभव करता है, वृद्ध भी करता है। बालक और वृद्ध की अवस्था भिन्न होने पर भी अहंबोध एक ही है। इस अहं प्रकृति के उदय का मूल कारण है गुरु-कृपा। उस दक्षिणामूर्ति को नमस्कार।

समग्र विश्व का कार्य-कारण भावों के द्वारा दर्शन किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत किसी वस्तु को कार्यरूप में, किसी वस्तु को कारणरूप में दर्शन किया जाता है। जिस प्रकार कोई स्वरूप में एवं कोई अधिष्ठाता स्वामीरूप में, इसी

प्रकार कोई शिष्यरूप में तो कोई आचार्य के रूप में, कोई पितारूप में, कोई पुत्र-कन्यारूप में भिन्न-भिन्न भावों को लेकर प्रकट होते हैं। स्वप्नावस्था में हो या जाग्रतावस्था में, पुरुष माया के द्वारा घूर्णित होता है। माया के द्वारा पुरुष को स्वप्नावस्था या जाग्रत्-अवस्था में जो बराबर घुमा रहे हैं, वे ही गुरुमूर्ति, दक्षिणामूर्ति हैं, उन्हें नमस्कार। इससे स्पष्ट है कि समग्र विश्व को माया के अधीन जो निरन्तर चक्कर कटवा रहे हैं, वे गुरुमूर्ति, दक्षिणामूर्ति हैं अर्थात् समग्र विश्व गुरुमूर्ति को आकर्षण करते हुए चक्राकाररूप में चक्कर काट रहा है। जो ऐसे स्वभाव-विशिष्ट हैं, उस गुरुमूर्ति, दक्षिणामूर्ति को नमस्कार।

जो गुरुमूर्ति दक्षिणामूर्ति हैं वे ही शिवरूपी हैं, उनकी अष्टमूर्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह अष्टमूर्ति कौन-सी है ? पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य और यजमान अर्थात् जीवात्मा। यही अष्टमूर्ति जिनकी है, वे ही हैं शिव अर्थात् जगद्गुरु। अष्टमूर्ति में पंचभूत हैं। इसके बाद चन्द्र-सूर्य अर्थात् काल भी है। अष्टमूर्ति जीव है। यह शिव की अष्टमूर्ति है तथा यही शिव ही जगद्गुरु हैं। जो साधक चिन्ताशील होते हैं, वे ही यह देख पाते हैं कि इनके अलावा अन्य कुछ विद्यमान नहीं है। समग्र इसके अन्तर्गत है। पंचभूत, काल अर्थात् चन्द्र-सूर्य, जीवात्मा—इन सभी को परमात्मा दक्षिणामूर्ति गुरुमूर्तिस्वरूप समझना।

दक्षिणामूर्ति स्तोत्र से सर्वात्मक भाव परिस्फुट रूप में प्रकट हुआ है, इसलिए इस स्तोत्र को श्रवण करने और अर्थ को मनन करने, ध्यान-कीर्तन करने पर उसके प्रभाव से ईश्वरत्व का उदय होता है। इसके साथ सर्वात्मकभावरूपी महाविभूति जुड़े रहते हैं। ईश्वरत्व या महाविभूति का स्वरूप एक होने पर भी अष्टधा विभक्त होकर अष्टसिद्धि बन जाता है। यही वास्तव में अव्याहत ऐश्वर्यस्वरूप है। सर्वात्मक भाव के उत्पन्न होने पर खण्ड-खण्ड विभूतियों का कोई मूल्य नहीं होता।

वटवृक्ष के नीचे भूतल पर उपविष्ट दक्षिणामूर्ति देवता विराजमान हैं। आप सभी मुनियों को ज्ञानदान देते हैं। आप त्रिभुवन के एकमात्र गुरु हैं, ईश्वरस्वरूप। इनकी कृपा से जन्म-मृत्युजनित दुःख-कष्ट नष्ट हो जाते हैं। आप त्रिभुवन के गुरु हैं। इन्हें नमस्कार।

एक आश्चर्यजनक दृश्य देखने में आया। जिस वटवृक्ष के मूल प्रदेश (संसार) में असंख्य वृद्ध शिष्य हैं, इनके साथ उनके गुरु भी हैं, लेकिन वे नित्य युवक हैं। शिष्यगण काल के अधीन हैं। इसलिए उन्हें वृद्ध कहा गया। गुरु पर काल का प्रभाव नहीं है। वे नित्य युवक हैं। आश्चर्य की बात यह देखी कि गुरु शिष्यों को उपदेश दे रहे हैं—मौन मुद्रा से। कुछ भी नहीं बोल रहे हैं। इस उपदेश को पाने पर समग्र संशय छिन्न हो जाता है। गुरु की मौन व्याख्या शक्तिपात के अलावा और कुछ नहीं है।

दक्षिणामूर्ति को नमस्कार कर रहा हूँ। यही दक्षिणामूर्ति प्रणव के मुख्य अर्थ अर्थात् ओंकार या प्रणव के वास्तविक वाच्य हैं। प्रणवं के रूप में इन्हें समझा जा सकता है। ये शुद्ध ज्ञानरूप देहसम्पन्न, मलहीन, प्रशान्त हैं।

जो सर्व विद्या के आधार हैं, जो संसार-रोग के चिकित्सक हैं, जो सभी लोगों के गुरु हैं, उन दक्षिणामूर्ति को नमस्कार।

मैं जिस दक्षिणामूर्ति को नमस्कार कर रहा हूँ, उनका स्वरूप कैसा है ? वे परब्रह्म तत्त्व की मौन के द्वारा व्याख्या करते हैं। वे स्वयं नित्य युवक हैं, पर उनके सभी शिष्य ब्रह्मनिष्ठ ऋषि तथा वृद्ध हैं। वे दक्षिणामूर्ति आचार्यों में श्रेष्ठ हैं। वे अपने हाथों में चिन्मय मुद्रा धारण किये हुए हैं, वे आनन्दस्वरूप हैं। वे स्वात्माराम हैं और उनका बदन नित्य मुदित रहता है। ऐसे दक्षिणामूर्ति नामक जगद्गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ।

●

२२

शरणागति

गीता में भगवान् ने शरणागति के बारे में कहा है। यह शरणागति क्या है ?

गीता में भगवान् ने कहा है कि यह सब तुम सुन नहीं पाओगे, समझ नहीं पाओगे। तुम केवल 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—तुम सब कुछ छोड़ दो—'मामेकं शरणं व्रज'—शरण क्यों कहा ? जो कुछ करना है, मैं करूँगा, यह जिम्मेदारी मेरी है।—ऐसा भाव मन में है—मुझ पर भरोसा रखो। सब कुछ छोड़ दो—मेरी शरण में रहो। ऐसी हालत में—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—कैसे फिर मेरा और कम होगा ? भूखे के लिए अन्न और तृष्णा पर पानी की आवश्यकता होती है। फलतः एक ऐसी चीज है जिसमें सब है। वही मेरा है। वह क्या है ? वह है—'अहं त्वाम् सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि।'

सभी चीजें एक-एक आवरण से मुक्त कराने के लिए हैं। मैं जो कह रहा हूँ, अगर यह करोगे तो जितने प्रकार के आवरण हैं, उन सभी से मुक्त हो जाओगे। इस जगह को छोड़कर अन्यत्र जाने की क्या जरूरत है ? वहाँ जाने का मतलब है आवरण से मुक्त होना। 'मामेकं'—अकेला मेरी शरण में आओ। शरणागत होने का मतलब यह है कि जैसे मैं तुम्हें चलाऊँगा, ठीक उसी प्रकार चलोगे। इसके बाद एक पाप से मुक्ति के लिए और एक प्रतिकार—एक पाप से और एक प्रतिकार—इसी प्रकार जितने आवरण हैं, सभी से मुक्त होने के लिए। तुम स्वयं प्रयत्न नहीं कर सकते। मुझ पर निर्भर रहो, उसे मैं करूँगा। 'अहं त्वाम्' .... कितनी सुन्दर बात है। कोई शर्त नहीं, कोई प्रतिबन्ध नहीं। न दस, न पाँच, सर्वपापेभ्यः तुम्हें मुक्त करूँगा।

तुम चिन्ता मत करो। मुझे पकड़े रहो। इसके बाद मैं जो कुछ करूँगा उसे समझ लेना। मुझे पकड़ लेने पर सभी पकड़ में आ जायेंगे। कुछ भी बाकी नहीं रहेगा। मैं ही सभी वस्तुओं का प्राणस्वरूप हूँ। इस प्रकार मुझे पकड़ो। यही है इस श्लोक का भाव। इसके आगे एक श्लोक है—'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति'—सभी मुझे कहते हैं पकड़ो-पकड़ो, कौन पकड़

सकता है ? क्या मुझे वे सब पकड़ सकते हैं ? कोई पकड़ नहीं सकता। आखिर क्यों ? वे क्यों मुझे पकड़ नहीं पाते ? जैसे पानी माँगो, शुद्ध जल लो, भात माँगो, भात लो, मिठाई चाहिए, मिठाई लो, जो चाहोगे वह वही देगा। ऐसी कोई दुकान नहीं है, जहाँ सारी सामग्री एक साथ मिले। एक दुकान में एक चीज मिलेगी। दूसरी दुकान में दूसरी चीज मिलेगी, तीसरी दुकान में तीसरी चीज मिलेगी। यह बात इस जगत् में, बाह्य जगत् में, देवलोक में है, सभी जगह यही बात है।

फलस्वरूप एक जगह सभी वस्तुएँ कैसे पाओगे ? जब कि वे यह यहाँ कह रहे हैं कि एक को पकड़ो, उस एक को पकड़ने पर तुम्हारा हर प्रकार का अभाव दूर हो जायगा। यह कितनी बड़ी बात है—कितना बड़ा प्रलोभन है ? कुछ छूटा नहीं। एकतरफा हो गया और बाकी रह गया—ऐसा नहीं हुआ। बाकी काम मैं कर लूँगा। पर ऐसा होता क्यों नहीं ? क्या कठिनाई है ? कौन सी असुविधा है ? मनुष्य के चरित्र के भीतर कौन-सा दोष है, त्रुटि है, बताओ ? गीताकार स्वयं कह रहे हैं—'अहं त्वां सर्वपापेभ्य: मोक्षयिष्यामि मा शुच:'—यहाँ यह क्यों नहीं कह रहे हैं—'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते'—मानव के जन्म कट जाते हैं, वह सब कट जाते हैं, जन्म होता है, पुन: वही सब करता है। पुन: जन्म लेता है—इसी प्रकार चलता रहता है। लेकिन बहूनां जन्मनामन्ते में भी प्रपत्ति नहीं होती। अपने मन के अनुसार साधना करता है और उसका फल प्राप्त करता है। फल प्राप्त करने के बाद ही फल-भोग समाप्त हो जाता है और फल प्राप्त करता है, फिर कर्म-साधना करता है। मुझे जब प्यास लगती है तब पानी पीता हूँ, पर जब तेज भूख लगती है तब पानी नहीं पीता, चावल या कोई खाद्य वस्तु खाता हूँ। फलत: जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उसके द्वारा पूरण करता हूँ। मुझे अनेक चीजों का अभाव है, सब कैसे पूरा होगा ? उस वक्त कहते हैं—अनेक जन्म कट जाते हैं। क्या यहीं मनुष्य की सभी चीजें उलट-पुलट जाती हैं ? उलट-पुलट से यहाँ मतलब है—कभी यह करता है और कभी वह करता है। कारण, हर वक्त उसे जरूरत होती है। सभी का समान रूप से समान होने की आवश्यकता है, उस तरह की चीज नहीं है। उस तरह की कोई चीज पा नहीं रहा हूँ।

जब एक चीज करने जाता हूँ तो दूसरी छूट जाती है, आखिर क्यों ? मैं एक ऐसी चीज चाहता हूँ जिसका भीतरी और बाहरी पक्ष समान भाव से मिल जाय। तभी काम होगा, वर्ना वह कैसे होगा ? एक ओर हुआ, दूसरी ओर नहीं।

यही कारण है कि अनेक जन्म कट जाते हैं। 'बहूनां जन्मनामन्ते' ज्ञान आता है। यह ज्ञान क्या है, सुनो। बहु जन्म कट जाता है, यह अज्ञान के लिए होता है। अगर ज्ञान का जन्म होता है तो एक में ही हो जाता है, क्योंकि ज्ञान का जन्म होने पर उसका एक लक्ष्य होता है। ज्ञान का लक्ष्य क्या है ? अज्ञान का जन्म बार-बार हो रहा है, पर ज्ञान का जन्म अगर वह आ जाय तो वह कैसा होगा ?

एक-एक जन्म में जैसा तुम्हारा स्वभाव है, जिधर प्रवणता है, उधर ही तुम चले जा रहे हो। यह भूल नहीं है, पर इसे पाने पर भी एक चीज छूट जाती है। वह भी तुम्हारा ही है, सोचो कि उसकी भी जरूरत थी।

जब उसे पाने के लिए प्रयत्न करने लगे तब उधर एक चीज छूट गयी। उस वक्त मैं कैसे सामंजस्य कर सकता हूँ—ऐसा किस वक्त होता है ? जब अज्ञान की स्थिति रहती है। इसके बाद ज्ञान आता है। ज्ञान तो एक ही है। जब ज्ञान आ जाता है तब यह नहीं करना पड़ता। ज्ञान के आने पर 'मां प्रपद्यते'—तब वह प्रपन्न होता है। प्रपन्न माने शरणागत। उस वक्त तुमने मुझे पकड़ा और मैंने तुम्हें पकड़ा। मैं न तो क जानता हूँ और न ख, ग, कुछ भी नहीं जानता। मैं केवल एक तुम्हें जानता हूँ, क की जरूरत होगी तो तुम देखोगे, ख की जरूरत होगी तो तुम समझ-बूझकर दोगे। मुझे कुछ समझने की जरूरत नहीं है, मैं तो केवल एकमात्र तुम्हें जानता हूँ। इसी का नाम है—शरणागति। वह जो है मैं स्वयं विचार करूँगा। 'क' चाहिए या 'ख' या 'ग' चाहिए, इसका निर्णय मैं स्वयं करूँगा। पर यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो एकमात्र तुम्हें पकड़ा है। तुम जिस तरह कराओगे, वही ठीक रहेगा। यही शरणागत-अवस्था है। यह कब होता है ? जब ज्ञान होता है। अज्ञान-अवस्था में शरणागत कभी नहीं होता, नहीं हो सकता, नहीं हो सकता।

ज्योंही ज्ञान आया त्योंही शरणागति। 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते'—उस वक्त तुम मेरे निकट प्रपन्न होगे। प्रपन्न माने शरणागत। किस तरह, किस रूप में शरणागत होगे ? 'वासुदेवः सर्वमिति'—सभी चीजें वासुदेव में प्राप्त होती हैं। एक को पकड़ने पर सभी पकड़ में आ जाते हैं। सभी वस्तुएँ वासुदेव में प्राप्य हैं। वासुदेव एक ऐसी वस्तु हैं जिन्हें पाने पर कोई भी वस्तु पाना बाकी नहीं रहता। यही है शरणागति। उस वक्त दस तरफ मन नहीं जाता। किसी ओर नहीं जाता। बिना ज्ञान के आये वह भाव नहीं आता। किन्तु अज्ञान में तरह-तरह की अवस्था होती है, इसके बाद ज्ञान के आने पर असली शरणागति आती है। तब 'वासुदेवः सर्वमिति'—सबकी जड़ में वासुदेव। सभी को वे चलाते हैं—इसे जो चला रहे हैं, उसे भी वही चला रहे हैं। इसे जो जान लेता है, वही ज्ञानी पुरुष है। वही ज्ञानी भक्त है। ज्ञानी और ज्ञानी भक्त में काफी प्रभेद है, पार्थक्य है।

वह ज्ञानी भक्त है। इसे प्रपन्न साधक कहते हैं। इससे क्या हुआ ? मुझे अब देखना नहीं पड़ेगा। ज्ञानी के कौन से लक्षण हैं ? ज्ञानी और अज्ञानी में क्या अन्तर है ? कितना पार्थक्य है ? अज्ञानी वह है जिसे किसी चीज की जरूरत है, जिसके लिए वह दुकान तक जाता है। उसे भात चाहिए, वह चावल खरीदने के लिए चावल वाले की दुकान में खरीदने जाता है। एक ने कहा कि मैं तो रोटी खाऊँगा। उसके लिए वह आटा वाले की दुकान में जाता है, चावल वाले की दुकान में नहीं जाता। जब वह ज्ञानी बन जाता है तब उसे जो जरूरत होती है, वह सब

एक जगह प्राप्त करता है। एक ऐसी दुकान है जहाँ चावल, आटा, मैदा आदि सब कुछ मिलता है। एक जगह एक का आश्रय लेना चाहिए। मुझे जिसकी जरूरत है, वह मिल जायगा। आगे ऐसी व्यवस्था नहीं थी। पहले जिस चीज की जरूरत है, जिससे प्राप्त हो सकेगी, उसी से लेता था। जिसके यहाँ मिल सकती है, उसके पास जाऊँगा। और यह एक ऐसी चीज है जहाँ सारी सामग्री मिलती है।

इसी सर्वात्मक भाव से उनके बारे में धारणा बना लो तो दस जगह जाने की जरूरत नहीं है। मैं हिन्दी पढ़ना चाहता हूँ, वह तुम पढ़ा सकते हो, मैं उर्दू पढ़ना चाहता हूँ, वह भी तुम पढ़ा सकते हो, फारसी, ग्रीक, लैटिन, अंग्रेजी तुम पढ़ा सकते हो, इसलिए मैं इन भाषाओं के अध्ययन के लिए अलग-अलग अध्यापक क्यों रखने जाऊँ? एक ही जगह सब काम हो जायगा। जरूरत है, पर सब कुछ एक ज़गह नहीं मिल रहा है तो दौड़धूप करनी पड़ेगी। प्रपन्नता (शरणागति) का लाभ क्या है? उस वक्त निष्ठा बढ़ती है। दस जगह जाने पर निष्ठा नहीं रहती। क्योंकि उसे गुरु मानूँगा, उसे भी गुरु मानूँगा और उसे भी गुरु मानूँगा। गुरु का द्वन्द्व आ जाने पर तुम मुसीबत में फँस जाओगे। तुम्हारा जो कर्त्तव्य है, वह तो है ही, इसके अलावा यह भी है, वह भी है, तब तुम क्या करोगे? यह गुरु-वाक्य कर्त्तव्य है, वह गुरु-वाक्य कर्त्तव्य है, पर जब एक में ही सब चीज है तब कुछ देखने की जरूरत नहीं है। कोई कुछ कहेगा, वही करोगे—सब कुछ उसके पास है, सब कुछ दिया जा सकता है, ऐसी चीजें उसके पास हैं। तब क्या हुआ—'बहूनां जन्मनामन्ते' तब ज्ञान आता है। ज्ञान के आने पर 'मां प्रपद्यते'—मुझमें प्रपन्न होता है। क्या—'वासुदेवः सर्वमिति'। वासुदेव, वासुदेव को लेकर कह रहे हैं, इसीलिए तुम किसी भी देवता को वासुदेव कह सकते हो। 'वासुदेवः सर्वमिति'—वासुदेव ही सब कुछ हैं। यही है शरणागति। वासुदेव का अर्थ है—मेरे इष्ट देवता। उन्हीं को पकड़ो, उनमें ही सब कुछ है, किसी अन्य के पास जाने की जरूरत? वास्तविक गुरु वे ही हैं, उनमें ही सब कुछ रहता है, उसी प्रकार 'वासुदेवः सर्वमिति'। वह व्यक्ति क्या होगा? वह होगा—प्रपन्न। पाँच दरवाजों का चक्कर काटने के बाद वासुदेव के आश्रय में आओगे, ऐसा नहीं, वासुदेव ही सब कुछ हैं। इसे वह समझ गया है। इसी रूप में शरणागति होगी। काली को जिसने पकड़ा है—काली में ही सब कुछ है, ऐसा भाव रहना चाहिए। किसी भी देवता या भाव को ग्रहण करो, एक में ही अनन्त है।

एकात्मता में ही अनन्तता है। एक में ही अनन्त है। यही है मूल तत्त्व या आधारभूत कारण—एक के भीतर सब कुछ है। और वह ऐसा नहीं है, वह एक में एक है, दो में दो है और तीन में तीन है। यहाँ एक में एक है, दो भी है, तीन भी है और चार भी है, सब है। एक के भीतर सब कुछ है। इसी का नाम प्रपत्ति

है। तभी 'वासुदेवः सर्वमिति' है। उस वक्त वे ही सब कुछ हैं। इस प्रकार के महात्मा बड़ी कठिनाई से मिलते हैं।

अब देखो, जो शरणागत होगा, शरणागत होने के लिए कुछ प्रतिबन्ध है, वर्ना गलती रह जायगी। एक ओर शरणागत और दूसरी ओर शरणागत न होने का अभाव रह गया। फलतः यहाँ हम दो क्षेत्र पाते हैं—(१) वासुदेवः सर्वमिति, (२) उस पर निर्भर रहना।

एकतरफा अगर कोई होता है तो एक दिशा पा जायगा। अगर दूसरा क्षेत्र खुल जाता है तो दूसरी दिशा पा जायगा। अगर तीसरा क्षेत्र खुला रहे तो वह उस दिशा को पा लेगा। पर सब कुछ तुम पा लोगे ही, अपनी आवश्यकता के अनुसार—ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा कब होता है ? जिसका सारा अन्तर खुल जाता है। जिसके भीतर वह है, वही है—वासुदेव। तुम्हें जितना अभाव होगा, मैं पूरण करूँगा। डरने की बात नहीं। दुःख, चिन्ता मत करो। यही है ज्ञान।

आगे ज्ञान हुआ या शरणागति ? आगे वह ज्ञान आता है। अगर ज्ञान नहीं आया तो शरणागति कैसे होगी ? ज्ञान ही बड़ी चीज है। यहाँ ज्ञान उपाय है—साध्य तक पहुँचने का साधन है। अन्यत्र ज्ञान उपेय है, स्वयं में ही साध्य है। अन्तर कितना है ? यही भिन्नता है, फलतः जहाँ भक्ति शरणागति में परिणत हो जाती है, वहाँ ज्ञान की प्रधानता नहीं रहती। ज्ञान वहाँ आयेगा और परिपूर्ण रूप में आयेगा। ज्ञान की आवश्यकता क्यों है ? ज्ञान पाने के लिए ज्ञान नहीं, ज्ञान की जरूरत इसलिए है कि मैं और मेरी योग्यता—जो मुझे चलाता है, उसी प्रकार मुझमें भाव प्रकट होंगे तब मुझे दस जगह जाना नहीं पड़ेगा। एक काम करने के लिए एक पत्र लिखना है। कलम के लिए एक के पास जाऊँ, स्याही के लिए दूसरे के पास जाऊँ, जिसके पास कलम है, उसके पास कागज नहीं है, जिसके पास स्याही है उसके पास कलम नहीं है—कुछ नहीं है। ये एक ऐसे हैं जिनके पास सब कुछ है। फलस्वरूप पत्र लिखने के लिए जितनी सामग्रियों की आवश्यकता है, वह सब एक के पास मिल सकती हैं। इस प्रकार का भाव ही ज्ञान की स्थिति है। इसके बाद आती है शरणागति—यह बाद की स्थिति है। ज्ञान पूर्व की अवस्था है और शरणागति बाद वाली अवस्था है। सामान्य रूप से ज्ञान बड़ा है, शरणागति नामक कोई वस्तु नहीं है। ज्ञान प्रारम्भिक अवस्था है। एक में लेकर शरणागति उसमें समा जाती है। यही वजह है कि अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उनके भीतर उस भाव को प्राप्त करते हैं। उनके भीतर वह चीज उसी रूप में स्पष्ट होती है, पर पाते हैं एक के भीतर ही। सभी लोग उसी एक से ही पाते हैं। उस वक्त ज्ञान अपने-आप आ जाता है—लक्ष्य तक पहुँच जाता है। ज्ञान पाने के कारण ही ज्ञानी बनते हैं, श्रेष्ठ बनते हैं—'चतुर्विधा भजन्ते मां............अर्जुन'। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, 'ज्ञानी च भरतर्षभ'। गीता में भक्तों की चार श्रेणियों का उल्लेख है। यह

कैसा आर्त ? जो काफी कष्ट सहने के बाद मुझे बुला रहा है—यह एक प्रकार के भक्त हैं। जिज्ञासु—जिसे ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है, पर ज्ञान पाने के लिए छटपटा रहा है। अर्थार्थी—जो जागतिक अभाव को दूर करने के लिए बुला रहा है। अर्थ का यह अर्थ नहीं कि वह धन चाहता है। उसे कोई एक चीज चाहिए जिसके लिए वह बुला रहा है। एक वे हैं जिन्हें परमार्थ के अलावा और कुछ की जरूरत नहीं, उसके लिए वह बुला रहा है, वही ज्ञानी है। वह न तो आर्त है और न जिज्ञासु, अर्थार्थी भी नहीं है। तब वह ज्ञानी है। ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं। यह एक जन्म की बात नहीं है। अनेक जन्मों की है। इसके बाद जब ज्ञान आता है तब अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है। किसलिए जाऊँगा ? उस वक्त ज्ञानी भक्त बन जाता है। वह भक्त—ज्ञानी भक्त होता है। दूसरी ओर जिन भक्तों में ज्ञान का उदय नहीं हुआ है, वे पहले भक्त बन गये हैं, वे अज्ञानी भक्त हैं। फलतः ज्ञानी भक्त वही है जो सब कुछ अर्पण कर चुका हो और जिसमें शरणागति-भाव आ गया हो। यही है शरणागति की असली बात।

●

२३

आध्यात्मिक काशी

भगवान् शंकराचार्य ने एक स्तोत्र में आध्यात्मिक काशी का उल्लेख किया है—

'साकाशिकाऽहंनिजबोधरूपा।'

हम लोग वर्तमान समय में जिस काशी के साथ परिचित हैं, वह तो एक क्षेत्र है अर्थात् पृथ्वी का एक स्थलविशेष है। रचना के वैशिष्ट्य से यह भूमि काशी मुक्तिक्षेत्र में परिणत हो गयी है, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि काशी में मृत्यु होने पर जीव को मुक्तिलाभ हो जाता है। यह काशी भारतवर्ष की उत्तरवाहिनी गंगा तट पर अवस्थित है, यह सर्वजनविदित है। यह पार्थिव काशी, क्षेत्र की दृष्टि से अन्य तीर्थस्थानों से अधिक महिमाशाली है।

महिमाशाली काशी

काशी, जो उत्तरवाहिनी गंगा-तट पर स्थित है, इसे छोड़कर उत्तरकाशी, गुप्तकाशी तथा दक्षिणकाशी नाम से तीन अन्य स्थान प्रसिद्ध हैं, परन्तु इन तीनों की महिमा इतनी अधिक नहीं है। जिस काशी के उत्तर में वरुणा और दक्षिण में असी और मध्य में गंगा-तट पर क्षेत्र का प्रकाश है, उसकी महिमा सबसे अधिक है। इस काशी की यह महिमा है कि यहाँ मरणमात्र से, स्वयं विश्वनाथ जीव को मुक्ति प्रदान करते हैं और उसकी ऊर्ध्वगति सिद्ध हो जाती है। इस विषय पर यहाँ विशेष चर्चा करना निरर्थक है।

भगवान् शंकराचार्य ने जिस 'निजबोधरूपा' काशी का उल्लेख किया है, वह इससे भिन्न है। निजबोध अथवा आत्मबोध इसी काशी का स्वरूप है। वह काशी ज्ञानी के लिए प्राप्य है, अज्ञानी उस ज्ञानपीठ को प्राप्त नहीं कर सकता। यह प्रसिद्ध है कि साधारण जीव जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन अवस्थाओं से सम्बन्ध रखता है। आवर्त्तक्रम से इन्हीं का पुनः-पुनः उदय होता है। जब तक अज्ञान का नाश न हो तब तक यही स्थिति रहती है। यही तीनों अवस्था संसार-अवस्था, ज्ञानी की अवस्था, जीवन-मुक्त की अवस्था है। वह संसार से ऊर्ध्व में है।

सद्गुरु की कृपा से जब जीव को सद्ज्ञान मिल जाता है तब एक पारमार्थिक सत्ता का आभास आ जाता है। सत्य ज्ञान की प्रभा से ऊर्ध्वगति का विकास होता है। देहात्मबोध धीरे-धीरे समाप्त हो जाता और मध्याकर्षण-शक्ति छूट जाती है। उस समय एक सरल गति काम करती है, जो मूलाधार से उठकर आज्ञाचक्र का भेदन करते हुए सहस्त्रार तथा ब्रह्मरन्ध्र की ओर गयी है। अज्ञान-अवस्था में चक्र नाड़ियों का प्रभाव रहता है। असंख्य नाड़ियों में इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना के दोनों तरफ इनकी गति चलती है। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में इड़ा-पिंगला की क्रिया होती है, देहात्मबोध होता है। सुषुम्ना आभासरूप में प्रकाशमान है। जाग्रत्-अवस्था में इन्द्रिय-द्वार से क्रियाएँ होती हैं, रूप-रस-गन्ध इत्यादि का साक्षात्कार होता है। बाहरी जगत् देखने में आता है। यह अज्ञात जगत् भी अनन्त है। जीव के ऊपर भौतिक आकाश विराजमान है। स्वप्नावस्था में इन्द्रियों का कार्य नहीं होता। यह बाहरी आकाश उस समय चित्त आकाश के रूप में परिणत हो जाता है। यहाँ जाग्रत् का संस्कार लेकर कार्य होता है, यह भी अज्ञान का जगत् है।

शिव-शक्ति का स्थल

जाग्रत् और स्वप्न के बाद सुषुप्ति-अवस्था है। यहाँ ज्ञान का आवरण रहता है, परन्तु सद्गुरु की कृपा हो जाने पर इस स्थिति में परिवर्तन आ जाता है। उस समय ऊर्ध्वगति का प्राधान्य रहता है। देहात्मबोध शिथिल हो जाता है। मध्याकर्षण की क्रिया नहीं रहती। यहाँ बहिर्जगत् या स्वप्नमय जगत् का भान नहीं रहता। सर्वत्र एक चिदाकाश का ही प्रसंग रहता है। सद्चिदाकाश में गुरु-कृपा से ऊर्ध्वगति पाकर साधक को चलना पड़ता है। इस गति में देश तथा काल का सम्बन्ध भी बदल जाता है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया शान्त हो जाती है। स्थूल देह का अभिमान बिलकुल नहीं रहता। जीव सतत माया राज्य में रहता है, परन्तु यह है—योगमाया का राज्य। माया के राज्य में देश का बोध काल का बोध रहता है, मध्याकर्षण की क्रिया रहती है, देहात्मबोध रहता है, मन की क्रिया भी रहती है। परन्तु योगमाया के राज्य में यह सब नहीं रहता, क्योंकि उस राज्य में जो जाग्रति है, वही यथार्थ जागरण है। उसमें क्रमशः ऊर्ध्वगति चलती रहती है। सर्वप्रथम अर्द्धमात्रा का आविर्भाव होता है। उसके बाद क्रमशः देश तथा मन का सूक्ष्मतर संपादन होते रहते हैं। इस योगमाया के राज्य में अर्द्धमात्रा क्रम से विभाग होते रहते हैं। सबसे पहले ईश्वर की भूमि है, इसे बिन्दु कहते हैं। इस अवस्था में जीव सिद्धि-लाभ करता है, सर्वज्ञ हो जाता है, सम्पूर्ण विश्व का दर्शन होता है।

इसके बाद नाद की भूमि है। यह है—सदाशिव की भूमि। इस समय निरोधिका नामक स्तर भेद करके जाना पड़ता है। निरोधिका में समग्र विश्व का पिण्ड या ब्रह्माण्ड में ज्ञान आता है। यह ज्ञान आत्मभाव के रूप में अर्थात् नाद के समय समग्र विश्व को अपने स्वजन के रूप में अनुभव होता है। इस समय कोई शत्रु ज्ञात नहीं होता। सभी मित्र-से लगते हैं। नाद और नादन्त शरीर के भीतर क्रिया करते हैं।

नादन्त के बाद ऊर्ध्वगति लाभ करके ब्रह्मद्वार से देह का भेद हो जाता है। इस समय साधक रहता है—पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के बाहर। इसका नाम है—शून्य या वायड (Void)। तांत्रिक लोग इस स्थान पर व्यापिनी कला का अनुभव करते हैं।

इसके बाद है—महाशून्य। महाशून्य के बाद समना भूमि है। यह विश्व के चालक ईश्वर का अर्थात् शिव का स्थान। यहाँ मन, तंत्र सूक्ष्म हो जाता है, परन्तु रहता है। देश और काल भी सूक्ष्म हो जाता है, परन्तु वह रहती है, विश्व में रहकर सबसे उच्चतम स्थिति यही है—विश्व-शक्ति का स्थान है।

जीव त्रिगुणात्मिका प्रकृति भेदकर कैवल्यपार होता है। माया को भेद करता है। यह मायिक जगत् के अधिष्ठाता ब्रह्म को भेद करता है। उसके बाद महामाया को भेद करता है। यह सर्वापिक्षया उच्चतम स्थिति है जिसको सर्वधर्मम् निटा कहते हैं। वह स्थल यह है—शिव, शक्ति, शुद्ध जीव। तंत्र में है, ईसाई धर्म में है, बौद्ध धर्म में है, शवागम में है, सर्वत्र है। परन्तु यह पूर्णत्व नहीं है। इसके बाद शिव-शक्ति का जो किंचित् भेद है, जीव और शक्ति का जो भेद है, सब दूर हो जाता है। वह है—निष्कल अवस्था, जिसे वर्तमान दार्शनिक 'इण्टिग्रेशन' कहते हैं। वहाँ एक अखण्ड सत्ता है। वही शिव है, वही शक्ति है।

इस अवस्था की प्राप्ति करने के लिए साधन-बल कुछ काम नहीं आता। इस अवस्था में, इस पूर्णापद से महाकृपा अथवा अनुग्रह-शक्ति का संचार होता है। इसे उन्मना शक्ति कहते हैं। इस शक्ति से आत्मा का परम स्थान प्राप्त होता है। वहाँ मन नहीं है, देश नहीं, काल नहीं है, संस्कार आदि कुछ भी नहीं है। वह साकार भी नहीं है, निराकार भी नहीं है। अखण्ड अद्वैत सत्ता है। शुद्ध प्रकाश की विमर्श-शक्ति एकाकार होकर प्रकाशित होती है। इसका नाम है—पूर्ण तत्त्व जो तत्त्वातीत होते हुए भी परमतत्त्व है। शैव लोग इसे परमशिव कहते हैं। शक्तिपूजक इसे पराशक्ति कहते हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय में इसके भिन्न-भिन्न नाम हैं। यहाँ पूर्ण वस्तु है जिसे ऐब्सील्यूट कहते हैं। यह जीव, ईश्वर, प्रवृत्ति तत्त्वों से ऊपर है। साकार भी यही है, निराकार भी यही है, दूर भी यही है, निकट भी यही है, यही परमस्थान है, यही निजबोधरूपा है, यही काशी है।

शंकर की निजबोधरूपा काशी

शंकर की निजबोधरूपा काशी जिसका बोध कराती है, वह यही है। यहाँ निर्दिष्ट देश, काल-बोध नहीं है। यह कैवल्य से विलक्षण है। जगत् के अधिष्ठाता परमेश्वर से भी विलक्षण है। यही है—अद्वैत भूमि। इसी का नाम है—काशी। शंकर ने इसी काशी को 'निजबोधरूपा' कहा है।

पूर्वोक्त विवरण में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त स्वप्नरूपी आवर्त्तन जब तक रहता है तब तक वह स्थिति जीव की है। उसके बाद अर्द्धमात्रा से लेकर अर्थात् ईश्वर-भूमि से लेकर जगत् अधिष्ठाता शिव तत्त्व है। उसके बाद है—जीवन्मुक्ति।

●

२४

राम-नाम की महिमा

श्रीभगवान् के रूप, लीला और गुणों की भाँति ही उनका नाम भी अप्राकृत और चिदानन्दमय है। नाम अलौकिक शक्तिसम्पन्न है। नाम के प्रभाव से ऐश्वर्य, मोक्ष और भगवत्प्रेम तक की प्राप्ति हो सकती है। नामाभास को छोड़कर गुरुप्रदत्त शक्ति से सम्पन्न नाम का यदि विधिपूर्वक अभ्यास किया जाय तो उससे जीव के सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं। नाम के जाग्रत् होने पर उसके प्रभाव से सद्‌गुरु की प्राप्ति और तदनन्तर सद्‌गुरु से इष्ट मन्त्र-रूपी विशुद्ध बीज की प्राप्ति हो सकती है। बीज के क्रम-विकास से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है और देह एवं मन की सारी मलिनता दूर होकर सिद्धावस्था का उदय हो जाता है। मन्त्रसिद्धि वस्तुतः भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि के फलस्वरूप होती है। इस अवस्था में स्व-भाव की प्राप्ति हो जाती है, इसलिये समस्त अभावों की निवृत्ति हो जाती है। यद्यपि यह अवस्था सिद्धावस्था के अन्तर्गत मानी जाती है; परन्तु यही भगवद्भजन की प्रारम्भिक अवस्था है। माता के गर्भ से उत्पन्न मलिन देह से यथार्थ भगवद्भजन नहीं होता। इसलिये और राजमार्ग के भगवद्भजन की सुलभता के लिये मायिक अशुद्ध देह के उच्चस्तर पर भाव-देह की अभिव्यक्ति आवश्यक होती है। भाव देह में जो भजन होता है, वह स्वभाव का भजन होता है, वह विधिमार्ग की नियमबद्ध उपासना नहीं है। मन्त्र-चैतन्य के बाद, विधि-मार्ग की कोई सार्थकता नहीं रह जाती।

भक्त के भाव देह के विकास के साथ-साथ उसकी भावरञ्जित दृष्टि के सम्मुख इष्ट देवता का ज्योतिर्मय धाम अपने-आप ही प्रस्फुटित हो जाता है। इसके पश्चात् भजन के प्रभाव से भाव-रूपा भक्ति के प्रेमभक्ति में परिणत होने पर पूर्ववर्णित ज्योतिर्मय धाम में इष्ट-देवता का स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है। यही प्रेम की अवस्था है। इसके बाद भक्त और उसके इष्ट की पृथक् सत्ता विगलित होकर दोनों के एकीभूत हो जाने पर रस की अभिव्यक्ति होती है। यही अद्वैत-अवस्था है। इसी अवस्था में भक्त के स्थायी भाव के अनुरूप अनन्त प्रकार की नित्य लीलाओं का आविर्भाव हुआ करता है। यही भक्ति-साधना की सिद्धावस्था है।

श्रीभगवान् का नाम इस प्रकार रस के स्वरूप में अपने को प्रकट करता है। इसी का नाम साधना का साधारण तत्त्व है।

श्रीरामनाम श्रीभगवान् का एक विशिष्ट नाम है। इसकी महिमा अनन्त है। शास्त्रों ने इसी को 'तारक-ब्रह्म' कहा है। यह प्रणव से अभिन्न है, इस बात को भी ऋषि-मुनियों ने बार-बार बतलाया है। कहा जाता है कि परम भागवत श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी को देह-त्याग के कुछ दिनों पूर्व अलौकिक भाव से श्रीमन्महावीरजी ने रामनाम का रहस्य बतलाया था। उन्होंने कहा कि विश्लेषण करने पर रामनाम में पाँच अवयव या कलाओं की प्राप्ति होती है। इनमें प्रथम का नाम 'तारक' है और पिछले चारों नाम क्रमशः— 'दण्डक', 'कुण्डल', 'अर्धचन्द्र', और 'बिन्दु' हैं। मनुष्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह को लेकर इस मायिक जगत् में विचरण करता रहता है। जब तक माया का भेद नहीं होता, तब तक महाकारण देह की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधक को गुरूपदिष्ट क्रम के अनुसार स्थूल देह के समस्त तत्त्वों को नाम के प्रथम अवयव 'तारक' में लीन करना पड़ता है। स्थूल देह एवं अन्यान्य तीनों देह पाञ्चभौतिक हैं। स्थूल में अस्थि, त्वक् आदि पाँच पृथ्वी के; भेद, रक्त, रेतः आदि पाँच जल के; क्षुधा, तृष्णा आदि पाँच तेज के; दौड़ना, चलना आदि पाँच वायु के और काम, क्रोध, लोभ आदि पाँच आकाश के कार्य हैं। अन्य तीनों देहों में भी इसी प्रकार पञ्चभूतों के अंश हैं। प्रत्येक तत्त्व की पाँच प्रकृति होती है। इसी से स्थूल देह में पाँच तत्त्वों की पच्चीस प्रकृति है। इसी प्रकार अन्य तीनों देहों में पच्चीस प्रकृति है।

साधना के प्रभाव से स्थूल देह के पाँचों तत्त्व जब तारक में लीन हो जाते हैं, तब सूक्ष्म देह के पाँचों तत्त्वों को नाम के दूसरे अवयव 'दण्डक' में लीन करना पड़ता है। इधर पूर्वोक्त तारक भी स्थूल तत्त्वों को अपने अन्दर लेकर 'दण्डक' में लीन हो जाता है। इसके बाद कारणदेह के तत्त्व नाम के तीसरे अवयव 'कुण्डल' में लीन हो जाते हैं। साथ ही दण्डक भी कुण्डल में लीन हो जाता है। कारणदेह की निवृत्ति के पश्चात् शुद्ध सत्त्वमय महाकारण-देह को नाम के चतुर्थ अवयव 'अर्धचन्द्र' में लीन करना पड़ता है। महाकारण देह तक जड़ का ही खेल समझना चाहिए। हाँ, महाकारण-देह जड़ होने पर भी शुद्ध है; परन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण जड़ अशुद्ध हैं। महाकारण-देह के अर्धचन्द्र में लीन हो जाने के बाद 'कैवल्य' देहमात्र बच रहता है। यह विशुद्ध चित्स्वरूप और जड़ सम्बन्ध से रहित है। अर्धचन्द्र के बाद का नाम का पाँचवाँ अवयव या कला बिन्दुरूप से प्रसिद्ध है। बिन्दु पराशक्ति श्रीजानकीजी का स्वरूप है। बिन्दुरूपा श्रीजानकीजी का आश्रय लिये बिना कलातीत श्रीराघव का सन्धान नहीं मिल सकता। बिन्दु के अतीत रेफ ही परब्रह्म श्रीरामचन्द्र हैं। बिन्दुरूपिणी सीताजी और रेफरूपी श्रीरामचन्द्रजी में दृढ़ अनुराग जब अचल हो जाता है, तब भवबन्धन से मुक्ति मिल जाती है। और तभी

सिद्ध पञ्चरसों का आस्वादन हो सकता है, इससे पहले नहीं। शान्तरस के रसिक प्रह्लादादि, दास्य के हनुमान् आदि, सख्य के सुग्रीव-विभीषणादि, वात्सल्य के दशरथ आदि और शृंगार-रस के मूर्तस्वरूप जनकपुर की युवतियाँ— विशेषतः श्रीजानकीजी स्वयं हैं।

कैवल्य-देह में चित्तत्त्व का स्फुरण वर्तमान है। उसके बाद तत्त्वातीत ब्रह्म वस्तु है, जो शक्तिरूप में श्रीजानकीजी के नाम से और शक्ति के आश्रयरूप से श्रीराम के नाम से भक्तों के लिए सुपरिचित है। महावीरजी ने जो उपदेश दिया है, उसका तात्पर्य यही है कि बिन्दु का आश्रय लिये बिना निष्कल परब्रह्म की ओर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। वैसे प्रयत्न से बड़े अनर्थ की सम्भावना है।

तुलसी मेटै रूप निज बिंदु सीय को रूप ।
देखि लखै सीता हिये राघव रेफ अनूप ॥
तुलसी जो तजि सीय को बिंदु रेफ में चाहु ।
तौ कुंभी महँ कल्प शत जाहु जाहु पर जाहु ॥

अतएव जो रामनाम के रसिक हैं, वे अर्धचन्द्रबिन्दु और रेफ को एक कर डालते हैं; पृथक् नहीं होने देते। और इस एक में ही उनके आस्वादन के लिए अचिन्त्य विचित्र लीलाएँ प्रस्फुटित हो उठती हैं।

●

२५

महाशक्ति का आह्लादिनी स्वरूप

महाशक्ति सच्चिदानन्दस्वरूपा है। यह परब्रह्म की स्वरूप-शक्ति है, इसलिए यह ब्रह्म के साथ सर्वथा अभिन्न है। इस अभिन्नता के कारण ही स्वरूप-शक्ति के सम्बन्ध से ब्रह्मतत्त्व पूर्ण ब्रह्मरूपेण प्रकाशमान होते हैं। चित् और आनन्द इस महाशक्ति का अन्तरस्वरूप है और ज्ञान तथा क्रिया को गर्भ में धारण करती हुई इच्छा उनका बहिरङ्ग स्वरूप है। इस इच्छा का नाम महा-इच्छा है, जिससे अनन्त विश्व का स्फुरण होता रहता है। इच्छा की पृष्ठभूमि में सृष्टि का स्फुरण नहीं हो सकता। इसलिए उस भूमि का नाम है विषयातीत सत्ता। विषयातीत में चिद् और आनन्दपर्यन्त कला का स्फुरण है; उससे अतीत अवस्था में कला स्फुरित नहीं होती है। उसका नाम अनन्त निष्कल परमसत्ता है।

महाशक्ति ऐश्वर्यमयी तथा माधुर्यमयी दोनों ही है। जब यह शक्ति बहिर्मुख रहती है, तब इच्छा का रूप लेकर विश्व का प्रसव करती है। कामरूपी इच्छा, सृष्टि के बीज-रूप से वर्णित होने योग्य है। ज्ञान का रूप लेकर पूर्वोक्त बीज का प्रकाशन होता है। यह प्रकाशन-व्यापार अनन्त-आकार-विशिष्ट-रूप में भीतर में स्फुरण-मात्र है, यह स्मरण रखना चाहिए। यही स्फुरण 'क्रिया' का रूप धारण करके बाह्य भाव में स्फुटित हो जाता है। यहाँ तक कला की क्रीड़ा समझना चाहिए। काल का स्पर्श इसके भीतर भी हो जाता है। कालस्पर्श के अनन्तर ये सब कला तत्त्व-रूप में प्रकाशित होते हैं। इसके बाद क्रमशः वहाँ से सब तत्त्वों के आविर्भाव होते हैं। तत्त्वों के संघटन से भुवनों की रचना होती है। इसके बाद भुवनों की महासमष्टि-रूप में महाकाल का आश्रय ग्रहण करके महासृष्टि का आविर्भाव होता है। इस महासृष्टि में त्रिकाल का भेद नहीं रहता और इसमें किसी प्रकार का परिणाम भी नहीं है। पृथक्-पृथक् रूप में सृष्टि की अनन्त सत्ता इस महाकाल में रहती है। इसको परमेश्वर का बहिरङ्ग जानना चाहिए। इस अवस्था से खण्डकाल का आविर्भाव होता है और अतीत, अनागत तथा वर्तमान अवस्था का स्फुरण होता है। खण्डकाल का जगत् परिणामशील है। योगी जिस समय इस इच्छारूपी महाशक्ति की स्थिति में उपस्थित होता है, जब योगी को इच्छा-मात्र की शक्ति का स्फुरण होकर तत्तत् पदार्थ का आविर्भाव होता है; उस समय महाशक्ति की उस अवस्था के ऐश्वर्य-रूप का वर्णन किया जा सकता है।

ऐश्वर्यमयी महाशक्ति की बहिर्मुखी इच्छा के प्रभाव से अनन्त विश्व निरन्तर स्फुरित होते रहते हैं। साधारण मनुष्य तो दूर की बात है, महाशक्ति-सम्पन्न योगी भी इस अवस्था में उपस्थित होकर ऐश्वर्यमयी विश्वमाता की उपासना करता है। श्रीमाता की जो माधुर्यमय सत्ता है, उसे योगी भी इस समय नहीं जान सकता। इस बहिर्मुख अवस्था की दो दिशाएँ हैं—एक विज्ञान की दिशा और दूसरी योग की। योगी योग के प्रभाव से अपने स्वरूप-सिद्धि के प्रसङ्ग में जब प्रकृति-पर्यन्त तत्त्वों को अपने अधीन करने में समर्थ होता है, तब प्रकृति उसका स्व बन जाती है और योगी बनता है प्रकृति का स्वामी, अर्थात् अधिष्ठाता। इस स्व-स्वामि-सम्बन्ध को, प्रकृति को आयत्त करने के प्रभाव से, योगी अनुभव कर सकता है। इस अवस्था में प्रकृति का अधिष्ठाता होने पर भी पुरुष स्वरूपतः प्रकृति से पृथक् है। इस स्थिति में योगी की ज्ञानशक्ति सत् और क्रियाशक्ति चेतन अपरिमित रूप से खुल जाती है। इन दोनों शक्तियों के सम्मिलित प्रभाव से योगी प्रकृति का दोहन करके अपनी इच्छा के अनुरूप सृष्टि कर सकता है। इस समय प्रकृति योगी के लिए कामधेनु बन जाती है। इसके बाद योगी प्रकृति को सम्पूर्ण रूप से आत्मसात् करके अद्वैत-रूप में स्थिति-लाभ करता है। यह है योग-भूमि, विज्ञान-भूमि नहीं। इस समय योगी की इच्छा प्रकृति का दोहन करके सृष्टि नहीं करती, परन्तु अपने स्वरूप से ही अनुरूप सत्ता प्रकाशित करने में समर्थ होती है। इस अवस्था में उपादान की आवश्यकता नहीं होती है और योगी की इच्छा के अनुरूप निमित्त ही अपना स्वरूप नामक उपादान से अभिप्रेत पदार्थ प्रकाशित कर लेता है। यह चिदात्मा के अन्तर से इच्छा के प्रभाव से उसके अनुरूप पदार्थ का बहिःस्फुरण है। इस समय पुरुष के साथ प्रकृति की अभिन्नता-सम्पादन के अनन्तर एक अन्तरङ्ग-अवस्था का उदय होता है। इस समय इच्छा-शक्ति और बहिर्मुख नहीं रहती। वह सृष्टि अन्तर्मुख होकर जगदम्बा में अर्पित हो जाती है। इसका नाम है इच्छा का आत्म-समर्पण। इस समय इसके प्रभाव से इच्छा अन्तर्मुख हो जाती है और महाशक्ति आह्लादिनी-रूप से प्रकाशित होती है। बहिर्मुख इच्छा अन्तर्मुख होकर आनन्द में आत्म-समर्पण करती है। बहिर्मुख-अवस्था में जिस इच्छा का स्वरूप कामात्मक रहा, अन्तर्मुख होने के साथ ही साथ उसकी परिणति प्रेम-स्वरूप में हो जाती है। योगी इस समय स्वरूपाह्लादिनी-शक्ति जगदम्बा में आत्म-समर्पण करता है। इस प्रकार महाशक्ति का ऐश्वर्यमय तथा माधुर्यमय दोनों रूपों के साथ हमारा परिचय हो जाता है। ऐश्वर्य के समय इच्छा है बहिर्मुख, और माधुर्य के समय वह है अन्तर्मुख। अशोधित अवस्था में जिसका नाम था काम, उसी का शोधित अवस्था में नाम है प्रेम।

हम लोगों ने ऐश्वर्यमयी महाशक्ति का रूप बहुत देखा है। इस रूप को लेकर जगन्माता युग-युग में असुरों का ध्वंस करके जगत् को संत्रास-मुक्त करती हैं। इस समय उनका ह्लादिनी स्वरूप माधुर्यमय रूप देखने की कामना है, जिस रूप से दुष्कृत जनों का विनाशन कर उनको रूपान्तर में परिणत करेंगी और प्रेमिक भक्त-रूप में परिणति सम्पादन करके अपने अभय चरण में स्थान देंगी।

२६

काशी में मृत्यु और मुक्ति

हिन्दूशास्त्रों में तीर्थों के माहात्म्य-प्रसङ्ग में अनेक स्थानों पर कर्मतीर्थ और ज्ञानतीर्थ के नाम से दो प्रकार के तीर्थों का वर्णन मिलता है। कर्मतीर्थ-क्षेत्र की विशेषता के कारण धर्म या पुण्यसंस्कारों को उत्पन्न कर स्वर्गादि सुखमय अवस्था की प्राप्ति कराते हैं। परन्तु यदि ज्ञानतीर्थों का विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो उससे क्रमशः ज्ञान-संस्कार सञ्चित होते हैं और अन्त में पूर्ण ज्ञान का विकास होकर मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए ज्ञानतीर्थों को मोक्षदायक तीर्थ कहा गया है और इसीलिए शास्त्रों में अयोध्या, मथुरा, माया आदि नगरियों को प्राचीनकाल में मोक्षदायिनी बतलाया गया है। परन्तु दूसरे-दूसरे मुक्ति-स्थानों की अपेक्षा काशी की कुछ विशेषता है; क्योंकि अन्यान्य ज्ञान-भूमियों में जीवन धारण करने से, अर्थात् उन स्थानों पर निवास करने से ही स्थान-माहात्म्य के कारण ज्ञान का उदय होता है; परन्तु काशी में निवास से नहीं, अपितु देहत्याग से ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

कुछ लोग ऐसा सोचा करते हैं कि 'किसी स्थान-विशेष में मृत्यु होने से ही मुक्ति हो जायगी, ऐसा मानना सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है। काशीमरण के सम्बन्ध में शास्त्रों में जो प्रशंसासूचक वाक्य हैं, वे अर्थवादमात्र हैं; यानी लोगों को आकर्षित करने के लिए बढ़ाकर कहे गये हैं। यदि काशी में मरने से ही मुक्ति हो जाय तो फिर कृत कर्मों का फलभोग नहीं हो सकता और यदि कर्मों का फल न मिलेगा तो सृष्टि में नाना प्रकार की विषमता उत्पन्न हो जायगी तथा पापी और पुण्यात्मा अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल न भोगें और दोनों को समान गति मिल जाय, यह भी अनुचित मालूम होता है। इसके सिवा आत्मज्ञान हुए बिना मुक्ति भी कैसे हो सकती है ? ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती, यह ऋषियों का चरम और अभ्रान्त सिद्धान्त है। यह भी समझ में नहीं आता कि पापी और पुण्यात्मा दोनों ही काशी में मरते ही अपने पाप और पुण्य के संस्कारों से छूटकर तत्त्वज्ञान की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं और कर्मों का क्षय हुए बिना ज्ञान का उदय भी कैसे हो सकता है ?' आदि-आदि।

जिनके मन में इस प्रकार के सन्देह पैदा होते हैं उनको यह समझना चाहिए कि स्थानमाहात्म्य का निरूपण युक्तियों से नहीं हो सकता। बाह्य अथवा पाञ्चभौतिक दृष्टि से काशी तथा अन्य पार्थिव स्थानों में कोई लौकिक भेद नहीं दिखलाई पड़ता। काशी में कोई अलौकिक विशेषता है या नहीं, इसका निर्णय किसी शक्तिसम्पन्न पुरुष के अनुभव के द्वारा ही हो सकता है। कार्य के द्वारा ही शक्ति का अनुमान होता है, क्योंकि अतीन्द्रिय शक्ति साधारण मनुष्यों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अग्नि की दाहिका शक्ति साधारण दृष्टि से नहीं देखी जा सकती। साधारण मनुष्य तो दहनादि कार्यों को देखकर ही उसके अस्तित्व का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार काशी में ऐसी कोई विशेषता है या नहीं, जिसके प्रभाव से जीव ज्ञानवान् होकर मुक्ति-लाभ कर सकता है—इस तत्त्व की यथार्थ उपलब्धि करने के लिए उसका कुछ स्थूल परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसा किये बिना इस प्रकार के माहात्म्य का अनुमान करना भी सम्भव नहीं है।

मृत्यु के समय प्रत्येक मनुष्य का सूक्ष्म (लिङ्ग) शरीर स्थूल शरीर से अलग होकर अपने कर्म-संस्कारों के अनुसार गति प्राप्त करता है। जब तक स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग नहीं होता तब तक यह गति आरम्भ नहीं होती। अर्थात् मृत्यु के बाद ही सूक्ष्म शरीर में गति दिखलाई पड़ती है। इस गति की विचित्रता कर्म-वैचित्र्य के अनुसार ही होती है। ऊर्ध्वगति, अधोगति तथा तिर्यग्गति और प्रत्येक गति के असंख्यों अवान्तरभेद अनन्त प्रकार के जटिल कर्म-संस्कारों के कारण ही हुआ करते हैं। परन्तु काशी-क्षेत्र में जब मृत्यु के समय वह लिङ्ग-ज्योति (सूक्ष्म शरीर) स्थूल या अन्नमय कोष से पृथक् होती है तब वह अपने को एक तीव्र ऊर्ध्वगामी आकर्षण के मध्य देखती हैं, और इस आकर्षण के प्रभाव से वह लिङ्ग-देह (सूक्ष्म शरीर) क्रमशः ऊर्ध्वगामी होता है। काशी के सिवा अन्यान्य स्थानों में मृत्युकाल में लिङ्ग की ऐसी गति नहीं होती। अवश्य ही जिनको ज्ञान हो गया है, उनकी मृत्यु कहीं भी क्यों न हो, उनका लिङ्ग-शरीर ज्ञान के प्रभाव से स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी होता है। यह क्रम-मुक्ति के अनुसार उत्क्रमण की व्यवस्था है।

अब प्रश्न होता है कि काशी-क्षेत्र में शरीर छोड़ने पर साधारण मनुष्यों की अर्थात् अज्ञानी जीवों की भी इसी प्रकार ऊर्ध्वगति होती है या नहीं ? जब इसका साक्षात् अनुभव, जिनकी मृत्यु हो गयी है उन्हें छोड़कर, दूसरों के लिए असम्भव है, तब जीवित मनुष्य इस सम्बन्ध में किसी स्थिर सिद्धान्त पर कैसे पहुँच सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि योगियों एवं योगाभ्यासियों के लिए इस संशय को दूर करना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। कारण, पके हुए फल के डाल से टूटकर भूमि पर गिर पड़ने की भाँति जैसे प्रारब्ध कर्म का भोग पूरा होने पर सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से अलग हो जाता है, ठीक वैसे ही योगलब्ध बल से सम्पन्न

पुरुष जीवनकाल में अपने इच्छानुसार योगशास्त्रोक्त कौशल के द्वारा अन्नमय कोष से लिङ्ग (सूक्ष्म देह) को पृथक् करके बाहर निकाल सकते हैं। इस प्रकार योगी जब अभ्यास के समय लिङ्ग शरीर को स्थूल शरीर के सम्बन्ध से कुछ अंश में मुक्त करके बाहर ले आता है तब उसी क्षण वह बाह्य जगत् के विचित्र आकर्षण का अनुभव करता है। कहना नहीं होगा कि इस आकर्षण से ही लिङ्ग (शरीर) की भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियों का आरम्भ हुआ करता है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह आकर्षण और तज्जनित गति लिङ्गनिहित कर्म-संस्कारों का फल है। यदि यह देखा जाय कि किसी स्थान-विशेष में अभ्यास-काल में लिङ्ग शरीर अन्नमय कोष से पृथक् होने के साथ ही किसी अचिन्त्य शक्ति के आकर्षण से ऊर्ध्वगामी होता है, यहाँ तक कि उसके विचित्र कर्म-संस्कार भी उसे खींचकर नीचे की ओर नहीं ला सकते, तो यह समझना होगा कि यह स्थान-माहात्म्य का ही फल है। अनुभूति-सम्पन्न योगियों को काशी में इस प्रकार की अचिन्त्य विशेषता की उपलब्धि हुआ करती है। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर योगबल से देह-त्याग करने पर जिस प्रकार लिङ्ग शरीर की ऊर्ध्वगति होती है उसी प्रकार काशी में भी मृत्युकाल में लिङ्ग पृथक् होने के साथ ही ऊर्ध्वगति प्राप्त हुआ करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह ऊर्ध्वगति ज्ञान बिना नहीं हो सकती, इसलिए अज्ञानावृत, पापी अथवा पुण्यवान्—कोई किसी प्रकार के भी कर्मवाला हो, इस ज्ञान-क्षेत्र में देह त्यागने के साथ ही ज्ञान प्राप्त कर ऊर्ध्वगति पाता है। शास्त्रों में लिखा है कि काशी पृथ्वी के अन्तर्गत नहीं है। इसका असली तात्पर्य यह है कि दूसरे-दूसरे स्थानों में जैसे पार्थिव-आकर्षण या मध्याकर्षण स्थूल देह से पृथक् हुए लिङ्ग को नीचे की ओर खींचते हैं, काशी में ठीक इसके विपरीत ऊर्ध्व आकर्षण लिङ्ग को ऊर्ध्व की ओर आकर्षित करता है। स्थूल देह का सम्बन्ध टूटने के साथ-ही-साथ ऐसा दीखने लगता है। जिस प्रकार अधः आकर्षण अज्ञान का कार्य है, उसी प्रकार ऊर्ध्व आकर्षण ज्ञान का कार्य है। काशी-मृत्यु से लिङ्ग-देह एक प्रकार की ऊर्ध्वगतिशील अवस्था को प्राप्त होता है, इसीलिए काशी की श्रेष्ठ ज्ञान-क्षेत्र के रूप में पूजा होती है तथा शास्त्रों में 'मरणं यत्र मङ्गलम्' कहकर काशी-मृत्यु की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

काशी का ऐसा माहात्म्य या वैशिष्ट्य है या नहीं—इसका निर्णय केवल अनुभव के द्वारा ही किया जा सकता है, युक्तियों द्वारा नहीं। ऋषियों के इस प्रकार के अनुभव के बल पर ही शास्त्रकार काशी की महिमा का प्रचार कर गये हैं। अब भी समर्थ योगी अपने जीवित काल में ही इस प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। यह ज्ञान-प्राप्ति साक्षात् कृपा का फल होने के कारण इसके साथ कर्मों का कोई विरोध नहीं रह सकता। कहना नहीं होगा कि ज्ञानस्वरूप श्रीभगवान् की कृपा के बिना कभी ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। कर्मक्षय होने से ही ज्ञान का उदय होता

है—यह प्रकृत सिद्धान्त नहीं है। वस्तुतः साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान का आविर्भाव होते ही हृदय-ग्रन्थि का भेदन होकर समस्त संशयों का भञ्जन एवं कर्मों का क्षय हो जाता है। अतएव काशी-मृत्यु-रूप सौभाग्य को प्राप्त करना अथवा आत्मज्ञान का उदय होना, दोनों ही भगवान् की कृपा से होते हैं। दार्शनिकगण जानते हैं कि Justice (न्याय) और Mercy (दया) में कोई वास्तविक विरोध नहीं है। Mercy (दया) से Justice (न्याय) की ही पूर्णता होती है— Love is the fulfilment of law (प्रेम न्याय का पूरक है)—इस वाक्य के द्वारा ईसा के उपासकों ने भी इसी बात की घोषणा की है। जिस कृपा के द्वारा काशी-मृत्यु प्राप्त होती है, उसके साथ कर्मों का विरोध न रहने का कारण यह है कि काशी-मृत्यु द्वारा तारक-ज्ञान का उदय होने से अधः आकर्षण और गर्भवास-यन्त्रणा निवृत्त हो जाती है, पर कृत कर्मों का फल चाहे वह सुख हो या दुःख ही हो—ऊर्ध्व लोक में भोगना पड़ता है। अवश्य ही ज्ञानोदय होने के कारण नये कर्म नहीं होते और पुराने कृत कर्म क्रमशः सुख और दुःखरूप फल-भोग के द्वारा क्षीण हो जाते हैं। पर ज्ञान पूर्णता को प्राप्त करता है और जीव परमा मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। अतएव काशी में मृत्यु होने पर पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख भोग करना ही पड़ता है। तब किसी प्रकार के वैषम्य अथवा अन्याय का कारण नहीं रह जाता। परन्तु देवाधिदेव महादेव की कृपा से स्थान-माहात्म्य के कारण ज्ञान का उदय हो जाता है, इसलिए मुक्ति प्राप्त करने में भी कोई बाधा नहीं आती। इस सम्बन्ध में अन्यान्य विषयों पर कभी आलोचना की जा सकती है। यह ज्ञानाग्नि सञ्चित कर्मों को निःशेष रूप से जला डालती है।

यहाँ सद्योमुक्ति के सम्बन्ध में आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है।

●

२७

श्री सत्य ठाकुर द्वारा वर्णित अनुभव

स्वामी श्रीशारदानन्दजी द्वारा लिखित 'श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसङ्ग' नामक पुस्तक में श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव का एक अनुभव इस प्रकार लिखा है।

''वाराणसी के मणिकर्णिकादि पञ्चतीर्थों का दर्शन करने के लिए लोग नाव पर सवार होकर गङ्गाजी में जाया करते हैं। एक दिन ठाकुर (श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव) के साथ मथुरबाबू (रानी रासमणि के दामाद) भी गये। मणिकर्णिका के बगल में ही काशी का प्रधान श्मशान है। मथुरबाबू की नाव जब मणिकर्णिका के सामने पहुँची तब यह दिखाई दिया कि श्मशान चिताओं के धुएँ से भरा है—मुर्दे जल रहे हैं। भावमय ठाकुर (परमहंसदेव) उस ओर देखते ही एकदम आनन्द में भर गये और पुलकित होकर दौड़कर बाहर निकल आये, और एकबारगी नौका के किनारे पर खड़े होकर समाधिमग्न हो गये। मथुरबाबू के पण्डे और नाव के मल्लाह यह समझकर कि यह आदमी जल में गिरकर बह जायगा, ठाकुर को पकड़ने दौड़े। परन्तु किसी को भी उन्हें पकड़ने की आवश्यकता नहीं हुई। देखा, ठाकुर धीर स्थिर भाव से चुपचाप ध्यानमग्न खड़े हैं और एक अद्भुत ज्योति और हास्य की छटा उनके मुख से प्रस्फुटित हो रही है, जिससे वह सारा स्थान ही शुद्ध ज्योतिर्मय बन गया है। मथुरबाबू और ठाकुर के भानजे हृदय बड़ी सावधानी से ठाकुर के पास खड़े रहे, मल्लाह भी अचरजभरी नजर से दूर खड़े, ठाकुर का अद्भुत भाव देखने लगे। कुछ देर बाद ठाकुर के उस दिव्य भाव का लोप होने पर सब लोग मणिकर्णिका-घाट पर उतरे और स्नान-दानादि करके पुनः नाव पर सवार होकर आगे बढ़े।

''तदनन्तर ठाकुर अपने अद्भुत दर्शन की बात मथुरबाबू आदि से कहने लगे। उन्होंने कहा कि मैंने देखा, पिङ्गल वर्ण की जटाओंवाले एक लम्बे श्वेतकाय पुरुष गम्भीरता से चलते हुए श्मशान की प्रत्येक चिता के पास आते हैं और प्रत्येक देही को अच्छी तरह से उठाकर उसके कान में तारक ब्रह्म-मन्त्र प्रदान कर रहे हैं। सर्वशक्तिमयी श्रीश्रीजगदम्बा भी स्वयं महाकाली रूप से जीव के दूसरी तरफ

उसी चिता पर बैठकर उसके स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि सब प्रकार के संस्कार-बन्धनों को खोल रही हैं तथा निर्वाण का मार्ग उन्मुक्त कर अपने हाथों से उसे अखण्ड धाम में भेज रही हैं। इस प्रकार श्रीविश्वनाथ अनेक कल्पों के योग-तप से प्राप्त होनेवाला अद्वैतानुभवरूप भूमानन्द जीवों को दयापूर्वक प्रदान कर उन्हें कृतार्थ कर रहे हैं।''

मथुरबाबू के साथ जो शास्त्रज्ञ पण्डित थे, उन्होंने उपर्युक्त दर्शन की बात सुनकर कहा कि 'काशीखण्ड में इतना तो लिखा है कि काशी में मृत्यु होने से श्रीविश्वनाथजी जीव को निर्वाण-पद देते हैं; परन्तु किस दिव्य भाव से कैसे देते हैं, यह नहीं लिखा। आज आपके इस दर्शन से उसकी रीति समझ में आ गयी।'

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने काशी को पत्थरों से निर्मित नहीं देखा, उन्होंने देखा कि वह 'दिव्य चेतन का समूह है'। जिन अन्यान्य योगियों ने इस पवित्र काशी के दर्शन किये हैं, उन्हें भी ऐसा ही अनुभव हुआ है।

× × ×

पण्डित गोपीनाथजी कविराज के एक खास मित्र व्यावहारिक जीवन से अलग होकर काशी-सेवन कर रहे हैं। उन्होंने अपने जीवन की निम्नलिखित घटना कविराजजी को सुनायी थी। मेरे आग्रह से उन्होंने मुझसे जैसा कहा, ठीक वैसा ही मैं यहाँ लिख रहा हूँ। उन्होंने अपना नाम प्रकाशित करने की आज्ञा नहीं दी, इसलिए उनका पूर्ण परिचय नहीं दिया जा सकता।

''शायद सन् १९०५ में बंगाल से एक विजय नामक लड़का काशी आया था। मुझसे परिचय होने के बाद से ही उसका मेरे प्रति अत्यन्त अनुराग हो गया, और हम दोनों का प्रेम-सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया कि हम दोनों शाम के वक्त रोज ही घूमने जाया करते। प्रायः एक साल के बाद विजय के एक बूढ़े सम्बन्धी (उसके फूफा के पिता) का पत्र आया कि 'मैं बीमार हूँ और सपरिवार काशी आ रहा हूँ।' विजय ने मुझसे एक मकान किराये पर ठीक कर देने के लिए कहा। देख-सुनकर हम लोगों ने टेढ़ीनीम के पास एक मकान किराये पर लिया। वे लोग आकर उसमें ठहर गये। रोगी को ऊपर के मंजिल पर रखा गया। वृद्ध बहुत दिनों से बीमार थे, घरवालों ने बतलाया कि ये गत छः महीनों से काशी आने के लिए बड़े ही व्याकुल थे। काशी आने पर उनके रोग में कुछ भी कमी नहीं हुई, परन्तु मन में एक आनन्द का भाव दिखलाई दिया। रोग ने क्रमशः डबल निमोनिया का रूप धारण कर लिया और उनकी हालत बिगड़ गयी। एक दिन शाम को डॉक्टरों ने आशा छोड़ दी और वे जाते समय कह गये कि 'आज रात को परिचारकों को सावधान रहना चाहिए।' मैं उस समय वहीं था। विजय भोजनादि के लिए घर चला गया। अन्नपूर्णा फार्मेसी के किङ्करबाबू रोगियों की परिचर्या में बड़े कुशल थे।

इसलिए निश्चय हुआ कि रात को उन्हीं को यहाँ रखा जाय। उन्हें बुलाने का भार विजय को सौंपा गया। उनकी प्रतीक्षा में मैं रोगी के पास बैठा रहा। घर के और भी दो-एक मनुष्य वहाँ थे।

''कुछ ही देर बाद, नीचे के तल्ले में खड़ाऊँ की आवाज सुनकर मैं सीढ़ी की ओर देखने लगा; क्रमशः मैंने देखा कि एक दिव्यमूर्ति संन्यासी हाथ में त्रिशूल और कमण्डलु लिये सीढ़ी से आकर सीधे रोगी के बिल्कुल निकट चले गये एवं सिर झुकाकर रोगी के कान में कुछ कहने लगे। रोगी में करवट बदलने की ताकत बिल्कुल नहीं रह गयी थी, परन्तु उसने सहज ही करवट बदलकर मानों संन्यासी के वचन सुने। संन्यासी चले गये। वृद्ध ने दो-एक लम्बे श्वास लिये और साथ ही उनका प्राणपखेरू उड़ गया। यह घटना मेरी आँखों के सामने हुई, मैं सोचने लगा—'ये संन्यासी कौन थे।' घर के दूसरे लोगों से पूछने पर उन्होंने कहा कि 'कहाँ ? हम लोगों ने तो किसी संन्यासी को नहीं देखा !' मैं अवाक् रह गया।

''मैं मानों किसी दिव्य लोक में बैठकर यह रहस्य देख रहा था। तब से मेरे मन में यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि परमकारुणिक शिव ही इस काशीधाम में विशेष रूप से जीव के अन्तकाल के समय आकर उसके कान में तारक-ब्रह्म-मन्त्र का उपदेश किया करते हैं।

''मैं बैठा था, कुछ ही देर बाद किङ्करबाबू ने आकर कहा कि 'अरे ! यहाँ तो सब शेष हो गया, कब हुआ ?''

यह घटना मैंने पूजनीय महामहोपाध्याय पण्डित यादवेश्वर तर्करत्न को सुनायी थी। इसने उनके मन पर इतना प्रभाव डाला कि उसके बाद वे, इस भय से कि कहीं जीवन के शेष मुहूर्त में शिवगुरुलाभ के सौभाग्य से वञ्चित न रह जाऊँ, थोड़े समय के लिए भी काशी छोड़ना नहीं चाहते थे। इस घटना के बाद से जब कभी मैं उस मकान के पास से निकलता हूँ, मेरा शरीर और मन आशा और आनन्द से प्रफुल्लित हो उठता है।

जिस मकान में यह घटना हुई थी, उसको उन्होंने आनन्द-गद्गदभाव से मुझको दिखलाया। इस प्रकार की घटनाएँ और भी अनेक सज्जनों से सुनी जाती हैं।

२८

मृत्यु-विज्ञान

मृत्यु और देहत्याग ठीक एक ही वस्तु नहीं है। मर्त्यलोक में सबकी मृत्यु होती है; परन्तु देहत्याग सबका नहीं होता। जो वह ग्रहण नहीं कर सकता, वह देहत्याग किस प्रकार कर सकता है। अज्ञानियों का जन्म जैसे उनकी इच्छा के अधीन नहीं होता, उसी प्रकार उनकी मृत्यु भी उनकी अपनी इच्छा के ऊपर नहीं निर्भर करती है। सूक्ष्मदेहसमन्वित आत्मा का स्थूल देह ग्रहण करना प्रारब्ध कर्म के विपाक के फलस्वरूप होता है। जाति या जन्म, आयु और भोग -ये तीनों प्रारब्ध कर्म के विपाक के रूप जाने जाते हैं। साधारण नियम यह है कि जीव के कर्मों की अधिष्ठात्री दिव्य शक्ति साधारणतः जीव को मृत्यु के उपरान्त संचालित करती है। मृत्यु के पहले भी जैसे सब जीव स्वाधीन नहीं हैं, मृत्यु के बाद भी ठीक वैसे ही स्वाधीन नहीं हैं। जीव अपने कर्मों की अधिष्ठात्री देवशक्ति के अधीन हैं। साधारण जीव की मृत्यु अपनी इच्छा के अधीन नहीं होती, ठीक इसी प्रकार उसका जन्म भी उसकी इच्छा के अधीन नहीं होता। दोनों ही कर्मसापेक्ष हैं और इसी कारण कर्म की अधिष्ठात्री शक्ति के अधीन हैं। जब तक अज्ञानमूलक देहात्मबोध रहेगा, तब तक यह नियन्त्रण अवश्याम्भावी है। इस अवस्था में मृत्यु में अज्ञान का आवरण रह जाता है। मुमूर्षु नहीं समझ पाता कि उसकी मृत्यु हो रही है, तथापि प्रकृति के नियम के अनुसार मृत्यु हो जाती है। वह निद्रा के अनुरूप मूर्च्छा की अवस्था है। किसी-किसी को मृत्युकाल में कम-अधिक यन्त्रणा होती है और किसी-किसी को बिल्कुल ही नहीं होती। सरल सहज रूप में देहत्याग हो जाता है। अवस्थाविशेष में मृत्युकाल में ज्ञान रहता है। इस अज्ञान और ज्ञान की सत्ता और शक्ति के ऊपर मुमूर्षु की मरणोत्तर शुभाशुभ गति के प्रकारभेद निर्भर करते हैं। शुक्ल या देवयान गति तथा कृष्ण या पितृयाण गति की बात शास्त्र में प्रसिद्ध है। ज्ञान का कुछ उन्मेष रहे बिना केवल कर्म और विकर्म के प्रभाव देवयान या शुक्लगति प्राप्त नहीं होती। यह जो ज्ञानी की मृत्यु के सम्बन्ध में तो इच्छा की कोई बात ही नहीं है। इस प्रसंग में यह याद रखना चाहिए कि पर्ण ज्ञानी की देहावसान काल

में कोई गति नहीं होती। यथास्थान स्थित अवस्था में ज्ञानी का प्राण महासत्ता में लीन हो जाता है। प्रकट अथवा गुप्त योगशक्ति के बिना मुमूर्षु के पक्ष में इच्छामृत्यु सम्भव नहीं है। योगशक्ति ही ईश्वरीय शक्ति है। प्रारब्ध के ऊपर भी तीव्र ईश्वरीय शक्ति का प्रभाव रहता है। इसके होने पर इच्छामृत्यु हो सकती है। यह ईश्वरीय शक्ति साधना या तपस्या के द्वारा अर्जित हो सकती है, अथवा पूर्वकर्म-सापेक्ष या निरपेक्ष भगवत्कृपा से भी हो सकती है। कभी-कभी महापुरुष के वर या आशीर्वाद से भी इसकी प्राप्ति होती है। इच्छाशक्ति के साथ ज्ञान का योग रह भी सकता है, नहीं भी रह सकता है। इस सम्बन्ध में बहुत विचित्रताएँ सम्भव हैं।

'कालमृत्यु' और 'अकालमृत्यु' में भेद है। एक दृष्टि से देखने पर सभी मृत्यु 'कालमृत्यु' है। काल पूर्ण हुए बिना मृत्यु हो ही नहीं सकती है। यह अति उच्च और सूक्ष्म दृष्टि की बात है। स्थूल दृष्टि से कालमृत्यु और अकालमृत्यु का भेद सर्वत्र स्वीकार किया गया है। इसका कारण भी है। बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि चार कारणों से मृत्यु होती है। पहला कारण है आयुक्षय, दूसरा है कर्मक्षय, तीसरा है आयु और कर्म दोनों का क्षय और चौथा कारण है उपच्छेदक कर्म। आयुक्षय होने से मृत्यु होने पर कहा जा सकता है कि जीव की अपने स्तर को दीर्घतम आयु के परिणाम की आयु अतिक्रान्त हो चुकी है, इसी से मृत्यु हुई है। निश्चय ही यह दीर्घतम आयु ही पूर्णायु के रूप में मानी जाती है। परन्तु यदि जनक कर्म में संजात शक्ति के ह्रासवश देहपात होता है तो कहा जाता है कि यह कर्मक्षय के कारण मृत्यु हुई है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्योचित दीर्घतम आयु और जनक कर्म-संजात शक्ति का परिणाम एक ही होता है। इस कारण ऐसी अवस्था में कहा जायगा कि एक साथ दोनों कारणों के संयोग से मृत्यु हुई और यदि आयु और कर्मशक्ति के रहते हुए भी विरुद्ध शक्ति के प्रभाव से देहपात होता है तो उसे उपच्छेदक कर्म का फल कहा जाता है। इसी को साधारणतः 'अकालमृत्यु' कहते हैं। प्राचीन आचार्यगण इसको 'उपच्छेदक मृत्यु' कहते थे।

उपच्छेद मृत्यु अनेक प्रकार की होती है। वात-पित्त आदि दोष तथा उनके सन्निपात को छोड़ देने पर भी बाह्य कारणवश उपच्छेद मृत्यु होती है। बाह्य प्रकृति का क्षोभ एक प्रधान कारण है। भूकम्प, वज्रपात, वर्षा, आँधी, बाढ़ तथा सवारी या अन्य गाड़ियों से हुई दुर्घटना के कारण उपच्छेद मृत्यु होती है। द्रव्यादि अनुचित व्यवहार तथा आकस्मिक आक्रमण भी उपच्छेद मृत्यु के कारण बनते हैं। उत्पीड़क तथा उपघातक कर्म के द्वारा उत्पन्न व्याधि (Epidemic) आदि भी इसके कारण हैं। केवल कर्म ही जीव के दुःख और मृत्यु का कारण बने, ऐसी बात नहीं है। विश्व की रचना प्रणाली में ही दुःख के कारण निहित हैं।

मृत्युकालीन सत्-चिन्तन

प्रसिद्धि है कि 'अन्ते मतिः सा गतिः' अर्थात् मृत्युकाल में जीव का जिस प्रकार का मन का भाव रहता है, तदनुसार मरणोत्तर गति का निरूपण होता है। प्राचीन काल से ही हिन्दू समाज में नियम है कि मृत्यु काल में मुमूर्षु के समीप सांसारिक आलोचना करना अनुचित है। मुमूर्षु के लिए भी उचित है कि उसका अन्तिम चिन्तन संसार विषयक न होकर भगवत्-विषयक हो। महर्षि गौतम के पितृमेधसूत्र (१।१।८) में लिखा है कि 'माता-पिता आदि गुरुजनों के मृत्यु काल में मरणासन्न व्यक्ति को वेद आदि का अन्तिम मन्त्र उच्चारण करके सुनाना चाहिए।' मुमूर्षु के दक्षिण कर्ण में एक साम-मन्त्र उच्चारण करके सुनाने का विधान शास्त्र में है। ऋग्विधान में है कि 'मृत्युकाल में मुमूर्षु के पास 'त्रातारं०'—इस सूक्त का पाठ करना चाहिए।' हिरण्यकेशी सूत्र (१।१) में लिखा है कि 'अग्निहोत्री पुरुष के मृत्यु काल में उसको वेदमन्त्र सुनावें।' वह ब्रह्मवेत्ता हो तो तैत्तिरीय उपनिषद् की 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्।' (२।१) और 'भृगुर्बै वारुणिः।' (३।१)—इन मन्त्रों का उच्चारण करें। 'अन्त्यकर्मदीपक' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि मुमूर्षु व्यक्ति जप में असमर्थ होने पर मन-ही-मन विष्णु या शिव की मूर्ति का चिन्तन करते-करते विष्णु या शिव के सहस्र नाम का श्रवण करें। आदि अथवा पावमान-सूक्त श्रवण करें। या भगवन्नाम कीर्तन का श्रवण करें। छान्दोग्य उपनिषद् में शाण्डिल्य विद्या के प्रकरण (३।१४।४) में है कि 'मनुष्य मात्र क्रतुमय हैं। इस लोक में जिस मनुष्य का जिस प्रकार का क्रतु अर्थात् भाव या संकल्प रहता है, मरने के बाद तदनुरूप ही उसकी गति होती है।' श्रीमद्भगवद्गीता में भी (८।५।६) अन्तिम समय में भगवत्स्मरण की व्यवस्था है।

कालभेद से मृत्यु की प्रशंसा

महाभारत शान्ति पर्व में उत्तरायण में देह त्याग की भूयसी प्रशंसा देखने में आती है। उपनिषद् में भी इसका समर्थन प्राप्त होता है।

आपन्ने तूत्तरां काष्ठां सूर्ये यो निधनं व्रजेत् ।
नक्षत्रे च मुहूर्ते च पुण्ये राजन् स पुण्यकृत् ॥

छान्दोग्य उपनिषद् (४।१५।५-६) में देवयान पथ का प्रसंग है। यह शुक्ला गति है। इसमें ऊर्ध्व गति प्राप्त होती है और पुनः प्रत्यावर्तन नहीं होता है। छान्दोग्य (५।१०।१-२) में आया है कि 'जो गृहस्थ पञ्चाग्नि विद्या में निष्णात हैं तथा जो वानप्रस्थ या परिव्राजक हैं, अर्थात् जो श्रद्धा और तपोयुक्त हैं, तथापि अभी ब्रह्मज्ञान को प्राप्त नहीं हैं, वे देवयान गति को प्राप्त होते हैं।' और जो लोग ग्राम में वास करते हैं, यज्ञानुष्ठान करते हैं तथा विधि पूर्वक इष्टापूर्त का सम्पादन करते हैं, वे मृत्यु के बाद धूम मार्ग से गमन करते हैं। (५।१०।३-७) उनको

संसार में पुनरावर्तन करना पड़ता है। इन दो के सिवा एक तीसरा लोक है, जहाँ कीट-पतङ्ग आदि की गति होती है। वहाँ केवल जाना और आना होता है। वृहदारण्यक में (६।२।१५-१६) देवलोक और पितृलोक के समान कीटादि लोक का उल्लेख है। गीता पञ्चम अध्याय (२३-२४) में दोनों मार्गों की बात उल्लिखित है। वेदान्त सूत्र में भी (४।३ पाद में) इस विषय में कुछ आलोचना की गई है। महाभारत में भीष्म के उत्तरायण के लिए प्रतीक्षा करने की बात सभी जानते हैं। यह शुक्ल मार्ग की प्रशंसा के लिए है, ऐसा पण्डित लोग करते हैं। वस्तुतः जो ब्रह्मवेत्ता हैं, उनके विषय में मार्ग-विचार अनावश्यक है। उनको दक्षिणायन में मरने पर भी ज्ञान के फल से ब्रह्म प्राप्ति ही होती है। भीष्म ने जो प्रतीक्षा की थी, उसका तात्पर्य यह है कि इच्छा मृत्यु होने पर भी जगत् को शुक्ल मार्ग की महिमा बतलाने के लिए उन्होंने ऐसा किया था। याज्ञवल्क्य स्मृति के सप्तम अध्याय में आया है कि 'देवयान गति से देवलोक प्राप्त होता है।' उसमें पितृयाण का भी उल्लेख है (३।१९५-१९६)। बोधायन पितृमेध सूक्त दूसरे अध्याय में है—'उदगायने अपूर्यमाणपक्षे दिवा क्रत्वन्ते श्रेयो परणमित्युपदिशन्ति'। इस प्रकार पुराणादि अनेक शास्त्रों में शुक्ला-कृष्णा गति का तारतम्य प्रदर्शित हुआ है।

मृत्यु-राज्य का विस्तार

कालराज्य ही मृत्यु-राज्य है। जहाँ तक काल का प्रभाव है, वहाँ तक वह मृत्युराज्य के अन्तर्गत है। काल का मुख्य कार्य है—कलन। यह कालराज्य में सर्वत्र विद्यमान है। इसी कारण कालराज्य में सर्वत्र और सर्वदा परिणाम की क्रिया चलती है। यहाँ क्रम है, पूर्वापरविभाग है और तदनुरूप वैचित्र्य भी है। निम्नस्तर में अर्थात् पृथिवी आदि में छः प्रकार के भाव-विकार देखने में आते हैं—जायते (उत्पन्न होता है), अस्ति (है), विपरिणमते (विकार को प्राप्त होता है), शर्द्धते (बढ़ता है), अपक्षीयते (ह्रास को प्राप्त होता है) और नश्यति (नष्ट हो जाता है)। ये छः विकार कालिक परिणाम के ही छः रूप हैं। देवलोक में साधारणतः तीन अवस्थाओं में परिणाम-कार्य करता है—अर्थात् आविर्भाव, स्थिति और तिरोभाव। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूक्ष्म परिणाम् सर्वत्र ही है। यही कारण है कि कालराज्य सर्वत्र ही क्षरणशील है। अवश्य ही यह खण्डकाल की बात है। यहाँ अतीत, अनागत और वर्तमान रूप में विद्यमान है। जैसे समस्त विश्व भगवान् में अभेद अहं-रूप में एक होकर रहता है। महाकालरूपा महासृष्टि में सारा विश्व भगवान् में नित्य वर्तमान इदंरूप में भासित होता है। महाकाल में समस्त विश्व नित्य द्रष्टा भगवान् के नित्य दृश्य के रूप में विराजमान है। वहाँ काल की परिणामरूपी क्रीड़ा नहीं होती।

महाकाल के नीचे खण्डकाल में अनन्त, असीम मृत्युराज्य अवस्थित है। मृत्युराज्य इतना विशाल है; परन्तु सारा राज्य एक प्रकार का नहीं है। सारा ही

मृत्यु का राज्य अवश्य है और एक हिसाब से जीव का भोगस्थान भी है; किन्तु कर्मभूमि पृथिवी के सिवा अन्यत्र विद्यमान नहीं है। पृथिवी पर भी सर्वत्र भोगस्थान की ही प्रधानता है, किन्तु कर्मभूमि एकमात्र भारतवर्ष है। भारतवर्ष में कर्म की उत्पत्ति भी होती है और कर्मफल का भोग भी होता है; परन्तु अन्यत्र भोग होता है। अभिनव कर्म सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता। इस जटिल प्रश्न की मीमांसा आवश्यक है, परन्तु इसकी आलोचना के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। अतएव यह जानना चाहिए कि कालराज्य के असंख्य भेद हैं। कालसंकर्षण क्रिया के फल से असंख्य कालराज्यों का प्रलय होता है, तब सारा विश्व अखण्डरूप में महाकाल में अधिष्ठित हो जाता है। परिणामहीन, उदयास्तहीन परमात्मा का यह दृश्य 'स्वरूप' है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

समष्टि मृत्यु और व्यष्टि मृत्यु

व्यष्टि मृत्यु केवल एक आदमी की मृत्यु है। समष्टि मृत्यु एक से अधिक मनुष्यों की एक साथ होनेवाली मृत्यु है। समष्टि मृत्यु समष्टि के कर्मवश अथवा कालवश हो सकती है। कालकृत होने पर उसको प्रलय या संहार कहते हैं। व्यापकता के हिसाब से यह नाना प्रकार की है। आपाततः सर्वापेक्षा व्यापक प्रलय समग्र ब्रह्माण्ड का संहार है। उसकी अपेक्षा भी व्यापक मृत्यु प्रकृत्यण्ड का संहार है और तदपेक्षा भी व्यापक मृत्यु मायाण्ड का संहार है। यही समस्त मायिक जगत् का विनाश है। इसके बाद अशुद्ध माया नहीं रहती और निम्नस्तर के सृष्टि-प्रलय भी नहीं रहते; परन्तु न रहने पर भी सृष्टि-संहार रहते हैं और वे अन्य प्रकार के हैं। इसमें आकुञ्चन और प्रसारण के कार्य होते हैं। समस्त मायातीत शाक्त जगत् में ऐसा ही होता रहता है। यह दीर्घकाल तक होता रहता है। इसके बाद वह भी नहीं रहता। यही कालसाम्य की अवस्था है। इसके बाद परम ज्ञान का उदय होता है। उस समय सृष्टि और संहार का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

गति-विज्ञान और समुच्चय-रहस्य

मरणोत्तर जीव-सत्ता की गति के रहस्य का ही इस लेख में 'गति-विज्ञान' के नाम से वर्णन किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हम मनुष्य देह की मृत्यु के विषय में आलोचना कर रहे हैं मानव के अतिरिक्त पशु-पक्षी के विषय में नहीं। मनुष्य से निम्न स्थिति के सब जीवों में कर्म-सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि उन जीवों में अहंकार का विकास न होने के कारण उनमें कर्म की सम्भावना नहीं होती। इस प्रसंग में हम मानव देह से अवरोह क्रम में अधःपतित पशु-पक्षी आदि देहधारी जीव की बात नहीं कह रहे हैं। चौरासी लाख योनि के स्वाभाविक क्रम विकास के अनुसार क्रमशः पशु-पक्षी की देह प्राप्त होती है, उसी को लक्ष्य करके यह कहा जा रहा है। अन्यथा, कोई योगी या भक्त पशु-पक्षी

की देह में स्वेच्छापूर्वक अवस्थान करके जिस अवस्था को प्राप्त होता है, उसको लक्ष्य करके यहाँ कुछ भी नहीं कहा जा रहा है। वस्तुत: कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि की कोई गति नहीं होती। शास्त्रों में उनके लिए किसी लोक का निर्देश नहीं है। उपनिषद् में 'जायस्व, म्रियस्व'—ये दो बातें उनको लक्ष्य करके कही गई हैं। अत: वर्तमान गति की आलोचना उनके सम्बन्ध में प्रयोज्य नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जो महापुरुष इस देह में ही देह पात के साथ-साथ परामुक्ति प्राप्त करते हैं, उनकी कोई गति नहीं होती। उनके शुभाशुभ कर्म पूर्णतया दग्ध हो जाते हैं। अतएव उनकी मरणोत्तर गति का कोई प्रश्न ही नहीं। वे लोग यथा स्थिति में ही ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करते हैं। प्रारब्ध कर्म की समाप्ति के साथ-साथ देहपात हो जाता है। देहपात के बाद उनका कोई ऐसा कर्म नहीं रह जाता, जिसके कारण उनकी कोई गति सम्भव हो। 'अत्रैव प्राणा: समवलीयन्ते'—ये सारी बातें उन्हीं के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुई हैं।

जिन साधक या योगियों ने कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के वैध मार्ग में सकाम भाव से जीवन व्यतीत किया है, जिनके चित्त में अभी ज्ञान का उदय नहीं हुआ, पर जो निषिद्ध कर्म छोड़ कर केवल वैध कर्म का अनुष्ठान करते रहते हैं, मृत्यु के बाद उनकी गति हुआ करती है। इसको 'पितृयाण गति' कहते हैं। इस गति के फलस्वरूप वे धूम मार्ग के द्वारा पुण्य-कर्म के अनुरूप स्वर्गादि लोक की उपलब्धि और भोग प्राप्त करते हैं। यह सब उनके अनुष्ठित शुभ कर्म के फल से प्राप्त होता है। परन्तु यह अनित्य है। इसी कारण पुण्य की मात्रा के अनुसार स्वर्गादि लोक में उनकी भोग प्राप्त होता है। पुण्य क्षय हो जाने पर वे स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं। किं बहुना, यह स्वर्गवास एकाधिक स्वर्ग सभी अनित्य हैं। इसी कारण भोग के समाप्त होने पर, अर्थात् पुण्य क्षय के साथ-साथ उनको मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। किं बहुना, स्वर्ग से च्युत जीव साधारणत: सद्वंश में जन्म ग्रहण करता है। यह जन्म-ग्रहण उन सब जीवों के शेष कर्म या अवशिष्ट कर्म के द्वारा हुआ करता है। जैसे जल भरे बोतल से जल गिरा देने पर भी उस खाली बोतल में कुछ अवशिष्ट जल का अंश रह जाता है, उसी प्रकार स्वर्ग भोग के द्वारा क्षीण हो जाने पर भी जो कुछ पुण्य कर्म अवशिष्ट रह जाता है, उसी के फल से पुनरावर्तन होता है और मनुष्य देह में जन्म होता है।

पापी के सम्बन्ध में भी यही बात है। पापी धूममार्ग का आश्रय करके बहुत कष्ट भोगते हैं हुए नरक में जाता है। नरक में उसकी नाना प्रकार की भीषण कष्टप्रद नरक यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। स्वाभाविक देह से इस प्रकार की कठिन यन्त्रणाओं का भोग सम्भव नहीं। इसी कारण उसकी 'यातनादेह' नामक एक प्रकार की देह का अवलम्बन करके नरक में प्रवेश करना पड़ता है। अति दीर्घ काल तक नाना प्रकार की यन्त्रणा भोग करने के बाद जीवन नरक से छूट कर लौटते

हैं। उनमें बहुत से पशु-पक्षी की देह धारण करते हैं और बाद में मनुष्य देह धारण करते हैं। बहुतों के शरीर में नरक भोग के नाना प्रकार के चिह्न वर्तमान रहते हैं। किसी-किसी क्षेत्र में कठिन रोग लेकर देह धारण करना पड़ता है। यह सब व्यतिक्रम बहुधा एकाधिक जन्म में संघटित होता है। स्वर्ग की प्राप्ति या नरक में पतन—दोनों धर्मराज के विचार के बाद निश्चित होते हैं। इन दोनों गतियों के फल से पुनरावर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है।

स्वर्ग के सम्बन्ध में यहाँ दो-एक बात कह देना आवश्यक है। यहाँ जिस स्वर्ग की बात कही गई है, वह निम्न स्तर का स्वर्ग है। वह सकाम पुण्य कर्म के फल से प्राप्त होता है। इस निम्न स्वर्ग से ऊपर उच्च कोटि का ऊर्ध्व स्वर्ग है। वह ज्ञान हीन पुण्य कर्म के फल से प्राप्त नहीं हो सकता। निम्न कोटि के स्वर्ग काम्य कर्म के फल के भोग स्थान हैं। वहाँ भोगोपयोगी सारी वस्तुएँ इच्छा मात्र से प्राप्त होती हैं, किसी से मांगना नहीं पड़ता। अनुकूल अप्सरा, अमृत रस, नाना प्रकार के सुस्वादु फल, सुन्दर दृश्य, दिव्य सुगन्ध, स्वर्ण पद्म से परिपूर्ण सरोवर, नाना प्रकार की भोग्य वस्तुएँ—सब वहाँ सहज ही प्राप्य हैं। यह स्वर्ग भोग का स्थान है। भोग समाप्त होने पर पतन अवश्यम्भावी है। ये निम्न से निम्नतर स्वर्ग बहुसंख्यक हैं। निम्न स्वर्ग के अधिष्ठाता इन्द्र देवता हैं। उच्च कोटि का ऊर्ध्व स्वर्ग इन्द्र के अधीन नहीं है। महर्लोक, सत्यलोक, तपोलोक उसी के अवान्तर विभाग हैं। ज्ञान-कर्म का समुच्चय हुए बिना उनकी प्राप्ति नहीं होती। योगशक्ति तथा ज्ञान के क्रम विकास के अनुसार अत्युच्च ऊर्ध्वतम स्वर्ग की प्राप्ति होती है। कहना न होगा कि यह 'पितृयाण पथ' से प्राप्य नहीं है।

अब देवयान मार्ग की बात कहते हैं। पितृयाण मार्ग में शुभ और अशुभ दोनों कर्मों की गति होती है। कुछ दूर तक एक ही पथ से गति होती है, उसके बाद पथ भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। देवयान पथ से जो गति होती है, वह शुक्ला गति है। ज्ञान हीन कर्म से इसकी प्राप्ति नहीं होती तथा कर्म हीन ज्ञान से भी नहीं होती; क्योंकि ज्ञानहीन कर्म स्वर्ग और नरक की ओर आकर्षण करता है। कर्महीन ज्ञान बिल्कुल ही गतिशून्य होता है, जैसा कि पहले कह चुके हैं। यहाँ ज्ञान और कर्म का समुच्चय आवश्यक है।

यह समुच्चय दो प्रकार होता है—'सम समुच्चय' और 'विषम समुच्चय'। सम समुच्चय में ज्ञान और कर्म की भाषा समान होती है। विषम समुच्चय में ज्ञान और कर्म की मात्रा समान नहीं होती। कर्म अंगी होता है और ज्ञान अंग। अथवा ज्ञान अंगी होता है और कर्म अंग। ज्ञान के साथ कर्म का मिश्रण हुए बिना गति सम्भव नहीं। कर्म और ज्ञान में किसकी प्रधानता है, यह मुमूर्षु साधक की साधना के ऊपर निर्भर करता है। इस समुच्चय में कर्म की मात्रा अधिक रहने पर पथ में प्रत्येक स्टेशन (Station) पर उतरना पड़ता है और वहाँ का भोग प्राप्त करना

पड़ता है। ज्ञान का अंश अधिक होने पर ऐसा नहीं होता। ज्ञान-कर्म-समुच्चय का अन्तिम स्टेशन ब्रह्मलोक है। विशुद्ध ज्ञान के फल से ब्रह्मलोक में गति नहीं होती। उसकी बिल्कुल ही गति नहीं होती, यह बात पहले कही जा चुकी है। ब्रह्मलोक में जाकर जब तक वासनाक्षय नहीं हो जाता, तब तक शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्मलोक में जीवन्मुक्त दशा में अवस्थान करना पड़ता है। ये सारे जीवन्मुक्त हिरण्यगर्भ के साथ सम्बन्धित हैं। जो लोग ब्रह्मलोक में निम्न अधिकार लेकर प्रविष्ट होते हैं, वे हिरण्यगर्भ के सालोक्य को प्राप्त करते हैं। जो उच्चतर अधिकारी हैं, वे सारूप्य की प्राप्ति करते हैं। जो और भी उच्च अधिकारी हैं, वे सार्ष्टि और सामीप्य को प्राप्त करके चरम अवस्था में सायुज्य को प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् महाप्रलय के समय ब्रह्माण्ड के नाश के साथ-साथ जब हिरण्यगर्भ की देह नष्ट हो जाती है तो हिरण्यगर्भ के साथ-साथ उनके अंगीभूत जीव परब्रह्म के साथ अभेद को प्राप्त होते हैं। यहाँ हिरण्यगर्भ नाम दिया गया है; परन्तु वस्तुतः सब साधक इस अवस्था में अपने-अपने इष्ट को प्राप्त होते हैं।

●

म. म. पं. गोपीनाथ कविराज की अध्यात्मपरक कृतियाँ

* भारतीय धर्म साधना
* अखण्ड महायोग
* श्री कृष्ण प्रसंग
* दीक्षा
* प्रज्ञान तथा क्रमपथ
* तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि
* काशी की सारस्वत साधना
* क्रम-साधना
* श्री साधना
* शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी
* सनातन-साधना की गुप्तधारा
* परातंत्र साधना पथ
* तांत्रिक साधना और सिद्धान्त
* तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन
* साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग (भाग 1-2,3,4) * भारतीय साधना की धारा
* भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्ड) * तत्त्वानुभूति
* अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान * स्वसंवेदन
* योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा * प्रभुदेव वचनामृत
* तन्त्राचार्य गोपीनाथ कविराज और योग-तन्त्र साधना
* रहस्यमय सिद्धभूमि तथा सूर्यविज्ञान * ज्ञानगंज

कविराजजी के गुरु का जीवन और दर्शन

सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन

अन्य संत योगी जीवन चरित

पुराण पुरुष योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी

योगिराज तैलंग स्वामी * बाबा नीब करौरी के अलौकिक प्रसंग

भारत के महान योगी (14 भाग : 7 जिल्द) * भारत की महान साधिकाएँ

महाराष्ट्र के संत-महात्मा * अघोरपंथ और संत कीनाराम



विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

ISBN:978-81-7124-743-1
Rs. 50





www.vvpbooks.com